

ॐ

परमात्मने नमः

विधि-विज्ञान

संपादक
शशीकांत म. शेट
भावनगर

प्रकाशक
वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट,
भावनगर-३६४००१

प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान :
वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट
५८०, जूनी माणेकवाडी,
भावनगर-३६४००१
फोन : (०२७८) २४२३२०७

प्रथमावृत्ति : प्रत :
द्वितीयआवृत्ति : प्रत:

पृष्ठ संख्या :
मूल्य :

टाईप सेटिंग :
पूजा इम्प्रेसन्स
१०७५/ए, मातृछाया-४,
आंबावाडी, भावनगर-३६४००१
फोन : (०२७८) २२०३४७०

मुद्रक :
भगवती ऑफसेट
१५/सी, बंसीधर मिल कंपाउन्ड
बारडोलपूरा, अहमदाबाद
फोन : २१७३४९२/२१६७६०३

प्रकाशकीय

शुद्धोपयोग संपन्न ज्ञानी धर्मात्मा ही ``समस्त जिनशासन`` हैं, ऐसा निर्देश `श्री समयसार` गाथा १५ में मिलता है। इस विषय की कुछ स्पष्टता ग्रंथ की `प्रस्तावना` में निर्दिष्ट है।

ट्रस्टीगण
वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट

ॐ

श्री वीतरागाय नमः

❖ विधि-विज्ञान ❖

['गुरुदेवश्री के वचनमृत'में से उद्धृत भेदज्ञान-विषयक रत्न]

क्रोधादि होने के काल में, कोई भी जीव अपने अस्तित्व बिना 'यह क्रोधादि है' ऐसा जान ही नहीं सकता। अपनी विद्यमानता में ही वे क्रोधादि ज्ञात होते हैं। रागादि को जानते हुए भी 'ज्ञान...ज्ञान...ज्ञान' ऐसा मुख्यरूप से ज्ञात होनेपर भी 'ज्ञान सो मैं' ऐसा न मानकर, ज्ञान में ज्ञात होनेवाले 'रागादि सो मैं' ऐसा, राग में एकताबुद्धि से, जानता है - मानता है; इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है। ४७.

❖

ज्ञान और राग को लक्षणभेद से सर्वथा भिन्न करो तभी सर्वज्ञस्वभावी शुद्ध जीव लक्ष में आ सकता है। जैसे - जो संपूर्ण वीतराग हो वही सर्वज्ञ हो सकता है, उसीप्रकार जो सर्व प्रकार के राग से ज्ञायक की भिन्नता समझे वही सर्वज्ञस्वभावी आत्मा को पहिचान-अनुभव कर सकता है। ऐसी सानुभव पहिचान करनेवाले जीव विरले ही हैं। जिस प्रकार पापभाव शुद्धात्मा की स्वानुभूति से बाहर हैं, उसीप्रकार पुण्यभाव भी बाहर रहते हैं, स्वानुभूति में प्रवेश नहीं करते; और इसीसे

२

'गुरुदेवश्री के वचनमृत'में से उद्धृत रत्न

उन्हें 'अभूतार्थ' कहा है। पुण्य-पाप रहित निज शुद्धात्मा की - भूतार्थ ज्ञायकस्वभाव की - अंतरमें दृष्टि होने पर स्वानुभूति प्रगट होती है, और वही सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है। ५६.

❖

शरीर, शरीर का कार्य करता है और आत्मा आत्मा का। दोनों भिन्न-भिन्न स्वतंत्र हैं। शरीर का परिणमन जिस समय जिस प्रकार होना हो वह उसके अपने से ही होता है, उसमें मनुष्य के हाथ की बात कहाँ है ? आत्मा में भी राग और ज्ञान के परिणाम होते हैं उनको आत्मा स्वयं करता है। जहाँ अपना-अपना कार्य करने में दोनों पदार्थ स्वतंत्र हैं, वहाँ कितने बाहरी काम व्यवस्थित किये, इतने कर दिये और इतने करना बाकी हैं - इस बात को स्थान ही कहाँ है ? ८४.

❖

आत्मा को प्राप्त करने के लिये (गुरुगम से) शास्त्रों का अभ्यास करना, विचार-मनन करके तत्त्व का निर्णय करना और शरीरादि से तथा राग से भेदज्ञान करने का अभ्यास करना। रागादि से भिन्नता का अभ्यास करते-करते आत्मा का अनुभव होता है। १२६.

❖

अरे जीव ! एक क्षण विचार तो कर, कि संयोग बढ़ने से तेरे आत्मा में क्या बढ़ा ? अरे ! संयोगों के बढ़ने से आत्मा की वृद्धि मानना वह तो मनुष्यदेह को हार जाने जैसा है। भाई ! तेरे ज्ञानस्वरूप आत्मा के साथ ये संयोग एकमेक नहीं हैं; इसलिये उनसे भिन्नता की प्रतीति कर। २०८.



['परमागमसार'में से उद्धृत भेदज्ञान-विषयक रत्न]

प्रश्न :- यदि (स्वभाव और विभाव) दोनों भिन्न ही हैं तो भिन्न करने के साधन की बात ही कहाँ रही ?

उत्तर :- भिन्न होने पर भी भिन्न माना कहाँ है ? इसलिए भिन्न करने के साधन क्या है, वे यहाँ समझाते हैं। जिस ज्ञान की वर्तमान दशा की विकार के साथ एकता है वह ज्ञान की पर्याय (जब) अंतर में ढलती है तब वह भगवतीप्रज्ञा है और यह भगवतीप्रज्ञा ही साधन है। वस्तु साधन नहीं परंतु उसकी प्रज्ञादशा साधन है। कर्ता, करण गुण हैं परंतु उनकी निर्मल पर्याय साधन है। २१.



प्रश्न :- परलक्ष्यी ज्ञान से आत्मा जाना नहीं जाता और अनादि मिथ्यादृष्टि को स्वलक्ष्यीज्ञान नहीं है तो साधन क्या ?

उत्तर :- राग से भिन्न होना - यह साधन है। प्रज्ञाछेनी को साधन कहो या अनुभूति को साधन कहो, यह एक ही साधन है। १४६.



प्रश्न :- एकदम से आत्मा में कैसे जाया जाए ?

उत्तर :- राग से भिन्न पड़ते ही एकदम से आत्मा में जाया जाता है। मैं यह नहीं, मैं यह नहीं, मैं राग भी नहीं...यह ज्ञानमूर्ति ही मैं हूँ, अंतर में ऐसे उतरते-उतरते आत्मा को पाया जाता है। पद्यपि यह काम अति दुष्कर है - अलौकिक है फिर भी अंतर प्रयत्न से संभव है। १६०.



जो विकल्प उठते हैं उन्हें धर्मी जानता है पर वह उन विकल्पों को करता नहीं है। विकल्प संबंधी जो ज्ञान होता है - उसका भी कर्ता विकल्प नहीं। राग होने पर भी, राग के कारण ज्ञानी को राग-संबंधी ज्ञान होता है - ऐसा नहीं है। राग और ज्ञानी के ज्ञान में ज्ञेय-ज्ञायक संबंध है, राग उस ज्ञान का कर्ता नहीं है। १६६.



प्रश्न :- क्या हमारे लिए इस चक्कर से छूटने का कोई रास्ता नहीं है ?

उत्तर :- 'पर से भिन्न हूँ - ऐसा भेदज्ञान करना - संसारचक्र से छूटने का यही एक मात्र रास्ता है, दुःख से छूटने का अन्य कोई रास्ता नहीं है। १७६.



राग ने स्वभाव का स्पर्श ही नहीं किया - इस बात की प्रतीति हुए बिना यह बात समझ में नहीं आयेगी कि निमित्त उपादान का स्पर्श नहीं करता। २०८.



किस रीति से भिन्न-भिन्न करते हैं ? - कि, स्व-पर-ग्राहक लक्षणयुक्त चैतन्यप्रकाश है; उस चैतन्य को जानकर और राग को जानकर भिन्न-भिन्न करते हैं। स्व-पर-ग्राहक - ऐसा 'ज्ञान-प्रकाश' स्व को जानता है और पर को भी जानता है, लेकिन पर को जानकर उसे भिन्न रखता है। चैतन्यलक्षण द्वारा स्व को लक्षित करते ही ध्रुव के पूर (प्रवाह) पर लक्ष्य जाता है। २५९.



ज्ञान और राग के बीच भेदज्ञान होने का यह लक्षण है कि ज्ञान में राग के प्रति तीव्र अनादरभाव जगता है - यही ज्ञान और राग के मध्य भेदज्ञान होने का लक्षण है। आत्मा में राग की गंध भी नहीं। राग के जितने भी विकल्प उठते हैं, मैं उनमें जलता हूँ,

वह दुःख-दुःख और दुःख हैं, विष हैं - ऐसा ज्ञान में पूर्व निर्णय हो; तो भेदज्ञान प्रकट होता है। ३०७.



स्व-पर-प्रकाश का पुँज प्रभु तो शुद्ध ही है, पर जो राग से भिन्न होकर उसकी उपासना करे - उसीके लिए वह शुद्ध है। जिसको समस्त पर द्रव्य से भिन्न होकर स्व में एकाग्रता करते हुए शुद्धता प्रकट होती है उसीके लिए वह शुद्ध है। रागादि-विकल्परूप नहीं हुआ है अतः रागादि से भिन्न होकर ज्ञायक की उपासना करने पर, जिसको पर्याय में शुद्धता का नमूना हुआ है उसके लिए वह शुद्ध है - ऐसा प्रतीति में आता है। 'वह शुद्ध है' ऐसा विकल्पवालों को (विकल्प की एकतावालों के।) प्रतीति में नहीं आता। ३३४.



ज्ञायक ध्रुव-नित्यानंद प्रभु को देखनेवाला भूतार्थदर्शी हैं, पर शास्त्र को जाननेवाले अथवा एक समय की पर्याय को देखनेवाले भूतार्थदर्शी हैं - ऐसा नहीं कहा। पूर्णानंद के नाथ प्रभु को निज-बुद्धि से अर्थात् स्व-चैतन्य-ओर ढली हुई ज्ञानदशारूप मतिज्ञान द्वारा भगवान ज्ञायकस्वरूप है; और राग आकुलता स्वरूप है - ऐसा दोनों का विवेक-भेद-विज्ञान करके वे अंतर पुरुषार्थ द्वारा ज्ञायक को आविर्भूतकर आत्मा का ज्ञायकरूप से अनुभव करते हैं। ३४४.



सर्व प्रथम क्रिया कौन सी ? - कि, सर्व प्रकार के भेदज्ञान में प्रवीण होना ही सर्व प्रथम क्रिया है। "द्रव्य तो त्रिकाली और निरावरण है" पर वर्तमान पर्याय में रागादि को मिश्रित कर रखा है। तो भी भेदज्ञान की प्रवीणता से, "राग-दशा की दिशा पर-ओर है - व ज्ञान-दशा स्व-ओर है" - ऐसे दो दशाओं के मध्य प्रज्ञाछैनी लगाने से - भिन्नता का अनुभव हो सकता है। ३४८.



इस प्रकार सर्व प्रकार से भेद-ज्ञान की प्रवीणता से क्या होता है ? - कि, "यह अनुभूति है, सो ही मैं हूँ" लेकिन व्यवहार रत्नत्रय का राग है सो मैं नहीं - ऐसे आत्मज्ञान होता है। ज्ञान लक्षण से लक्षित चैतन्यस्वभाव का अनुभव होने पर "यह अनुभूति ही मैं हूँ" ऐसा सम्यग्ज्ञान होता है। ३४९.



अतीन्द्रिय आनंद के वेदन में आनंदस्वरूप प्रभु को पर से भिन्न, दयादान आदि के भाव से स्पष्ट भिन्न देखने में आता है। शास्त्र सुनकर अथवा धारणा से उसे भिन्न जाना है - ऐसा नहीं, क्योंकि यह तो राग मिश्रित जानना है। परंतु राग से भिन्न निर्मल भेद-ज्ञान के प्रकाश द्वारा आत्मा को भिन्न देखना - वही भिन्न जानना कहलाता है। ३६७.



भले ही जीव तथा राग भिन्न रहकर एक क्षेत्र में रहें तो भी दोनों कभी भी न तो एकरूप हुए और न ही हो सकते हैं; अतः तू सर्व प्रकार से प्रसन्न हो। प्रभु ! तेरी चीज ! कभी रागरूप हुई नहीं, इसीलिए तू तेरा चित्त उज्ज्वल कर, सावधान होकर राग से भिन्नरूप आनंदस्वरूप का अनुभव कर। प्रसन्न होकर भेद-ज्ञान पूर्वक ऐसा अनुभव कर कि यह 'स्वद्रव्य ही मैं हूँ'। ३८५.



भाई ! तुझे दुःख का पंथ छोड़ना हो और सुख के पंथ में आना हो तो, पुण्य-पाप के भाव दुःखरूप हैं और मेरा स्वरूप आनंदमय है - ऐसे अभिप्राय पूर्वक पुण्य-पाप के भावों से पीछे पलट। श्रद्धा में पुण्य-पाप के भाव से पीछे मुड़; शुभाशुभ-भाव तो मैल हैं, और प्रभु निर्मलानंद है - जिसे ऐसा यथार्थ भेदज्ञान हो उसे आस्रव से निवृत्ति होगी ही। जो आस्रवों से निवृत्ति न हुयी हो तो उसे पारमार्थिक भेदज्ञान हुआ ही नहीं। ४७५.

प्रश्न :- राग और आत्मा की सूक्ष्म-संधि दिखती नहीं, अन्य विचार आया करते हैं, तो प्रज्ञाछैनी कैसे मारें ?

उत्तर :- स्वयं उल्टा पुरुषार्थ करता है, इसीलिए अन्य विचार आया करते हैं। पुरुषार्थ करके उपयोग को स्वभाव-सन्मुख सूक्ष्म करे तो आत्मा व बंध की संधि दिखे तथा भिन्नता की जा सके। ५०५.



(आत्मा को) चेतनागुणमय बतलाया है क्योंकि ज्ञान की पर्याय का अंश प्रकट है, अतः चेतनागुणमय त्रिकाल है - ऐसा बतलाया है। आनंद का अंश तो जब स्वभाव का आश्रय ले तब प्रकट हो; परंतु चेतना की वर्तमान पर्याय तो अज्ञानी का भी विकसित अंश है ; इसीलिए यह कहा है कि पूर्ण भगवान आत्मा चेतनागुणमय है। अंतर नजर डालते ही चेतना...चेतना...चेतना स्वभाव, अनंत-अपरिमित-स्वभाव (दिखता) है। उस चेतनागुण पर दृष्टि डालने पर राग से भिन्न पड़ना - वही उसके प्रकट होने का साधन है। ५३०.



भगवान आत्मा में ज्ञान अवस्थित है, अतः जो-जो प्रसंग बने उनमें ज्ञान करने का अवसर होने पर भी उनका ज्ञान करने के बदले; ज्ञेय-ज्ञान के भेदज्ञान से शून्य होने के कारण, स्वयं को ज्ञेयरूप जानता हुआ, ज्ञानरूप से परिणमित होने के बजाय अज्ञानरूप से परिणमित होता हुआ - रागादि-ज्ञेय मेरे हैं - ऐसा जानता हुआ, अज्ञानी उनका कर्ता बनता है। ज्ञेय-ज्ञायक की भिन्नता को अनादि काल से न जानने से स्वयं को ज्ञेयरूप मानता हुआ, ज्ञान परिणाम को अज्ञानरूप से करता हुआ विकार का कर्ता होता है। ५४७.



जो आत्मस्वभाव का अनादर कर परवस्तु से सुख पाना मानता है - वह जीव घोर पापी है। 'अंतर में महान चैतन्य-निधि बिराजमान है' उसका तो आदर नहीं करता व जड़ में सुख मानता है - ऐसे

जीव के भले ही बाह्य में लक्ष्मी के ढेर हों परंतु भगवान उसे पापी कहते हैं; तथा देह से भिन्न चिदानंद-स्वभाव का भान करनेवाला चाहे छोटा मेढ़क ही हो तो भी वह पुण्यजीव है; वह जीव अल्पकाल में मोक्ष चला जायेगा। शुभभाव से हमें लाभ होगा, शरीर की क्रिया से धर्म होगा - ऐसा माननेवाले जीव भी पापी हैं। जिन्हें अंतर में पर से भिन्न चैतन्य का भान नहीं है उनके भेदज्ञान के अभाव में पाप-जड़ का नाश नहीं होता इसलिए वह पापजीव है। चाहे बड़ा राजा ही हो पर यदि उसे भिन्न चैतन्यकाभान नहीं है तो उसके पाप का मूल कायम ही है, अतः वह पापजीव है। भेदज्ञान बिना (पाप का) मूल का नाश नहीं होता। ७५८



यहाँ मध्यलोक में कृत्रिम जिनबिब की बात बतलाई है, यानी धर्मात्माओं का नई प्रतिमाएँ बनवाकर उनकी स्थापना करना अनादि नियम है, यह निश्चित होता है; और जो शाश्वत प्रतिमाएँ हैं वे किसीकी बनायी हुई नहीं हैं। जो जीव स्वयं भेदज्ञान करता है उसे प्रतिमाजी निमित्त होती है अर्थात् उनके दर्शन-स्तुति करने से भेदज्ञान होता है। प्रतिमाजी एक दिव्यध्वनि के अतिरिक्त साक्षात् भगवान समान ही हैं। जो स्वयं धर्म प्राप्त करते हैं उन्हें प्रतिमाजी निमित्त होती है। इस प्रकार यहाँ प्रतिमाजी को स्व-पर भेद विज्ञान में निमित्त बतलाया है। जो जीव प्रतिमाजी को मानते ही नहीं - उन्हें कहते हैं कि - सम्यग्दर्शनादि में वस्त्रादि रहित वीतराग-प्रतिमाजी का ही निमित्त होता है; व उनका अभिषेक भी स्वच्छ जल से ही होता है, अन्य प्रकार नहीं। ८२६.



जीव, विकार तथा स्वभाव को एक मान रहा है, अतः यथार्थ विचार नहीं कर पाता। वह यदि मिथ्याधारणा में अवकाश बनाकर जाने कि विकार कृत्रिम है तथा स्वभाव निरूपाधिस्वरूप है तो भेदज्ञान

का अवसर आए, परंतु अज्ञानी ने तो उन दोनों में एकता मानी है। दया-दानादि से धर्म होने की मान्यता अर्थात् मिथ्यादर्शन के बल से वह उन दोनों में भेद नहीं करता। व्यवहार करे, कषाय को मंद करे तो धर्म हो - ऐसी विपरीत श्रद्धा - स्वभाव व विभाव को पृथक् जाननेरूप विचार भी नहीं करने देती। ९२९.



स्व-पर का श्रद्धान होने पर, अपने को पर से भिन्न जाने तो स्वयं के आश्रय से संवर-निर्जरारूप दर्शन-ज्ञान-चारित्र का उपाय करे; और परद्रव्यों का अपने से भिन्नरूप होने का श्रद्धान होने पर, पर के लक्ष्य से होनेवाले पुण्य-पाप व आस्रव-बंध को छोड़ने का श्रद्धान होता है। स्वयं को पर से भिन्न जानने पर निज-हितार्थ प्रवर्तन करे, तथा पर को अपने से भिन्न जानने पर उनके प्रति उदासीन हो व रागादिक छोड़ने का श्रद्धान हो। इस प्रकार सामान्यरूप से जीव-अजीव दोनों ही जाति को जाने तो मोक्ष हो। ९६५.



यदि तिर्यच को भी सात तत्त्वों का भान न हो तो उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता; क्योंकि यदि वह जीव की जाति ही न जाने तो स्व-पर को न पहचान पाये व फलस्वरूप पर में रागादिरूप कार्य किये बिना न रहे। लेकिन पशु को भी जीव-अजीवादि का श्रद्धान हो जाया करता है जिससे वह पर में रागादि के कार्य नहीं करता। कोई कोई मेढक, चिड़िया भी आत्मज्ञान पा लेते हैं - इन्हें जीवतत्त्व का यथार्थ भान होता है। मेरा तो चैतन्यस्वभाव है; वैसा पर में नहीं है अतः पर सो मैं नहीं और पर मुझ में नहीं है - ऐसे पर से भिन्न "निजस्वरूप को" (सम्यग्दृष्टि) पशु पूर्णतः जानता हैं, और उसे पर में एकत्वबुद्धि होकर रागादि नहीं होते। ९६९.



['बहिनश्री के वचनामृत'में से उद्धृत भेदज्ञान-विषयक रत्न]

'मैं ज्ञायक और यह पर', बाकी सब जानने के प्रकार हैं। 'मैं ज्ञायक हूँ, बाकी सब पर' - ऐसी एक धारा प्रवाहित हो तो उसमें सब आ जाता है, परंतु स्वयं गहरा उतरता ही नहीं, करने की ठानता ही नहीं, इसलिए कठिन लगता है। १३.



जैसे वृक्ष का मूल पकड़ने से सब हाथ आता है, वैसे ज्ञायकभाव पकड़ने से सब हाथ आयगा। शुभपरिणाम करने से कुछ हाथ नहीं आयगा। यदि मूल स्वभाव को पकड़ा होगा तो चाहे जो प्रसंग आयें उस समय शांति-समाधान रहेगा, ज्ञाता-दृष्टारूप से रहा जा सकेगा। १७.



प्रयोजन तो एक आत्मा का ही रखना। आत्मा का रस आये वहाँ विभाव का रस झर जाता है। ६९.



शुद्धस्वरूप आत्मा में मानों विकार अंदर प्रविष्ट हो गये हों ऐसा दिखायी देता है, परंतु भेदज्ञान प्रगट करने पर वे ज्ञानरूपी चैतन्य-दर्पण में प्रतिबिम्बरूप हैं। ज्ञान-वैराग्य की अचिंत्य शक्ति से पुरुषार्थ की धारा प्रगट कर। यथार्थ दृष्टि (द्रव्य पर दृष्टि) करके ऊपर आजा। चैतन्यद्रव्य निर्मल है। अनेक प्रकार के कर्म के उदय, सत्ता, अनुभाग

तथा कर्मनिमित्तक विकल्प आदि तुझ से अत्यंत भिन्न हैं। ७९.



जैसे स्वभाव से निर्मल स्फटिक में लाल-काले फूल के संयोग से रंग दिखते हैं तथापि वास्तव में स्फटिक रंगा नहीं गया है, वैसे ही स्वभाव से निर्मल आत्मा में क्रोध-मानादि दिखायी दें तथापि वास्तव में आत्मद्रव्य उनसे भिन्न है। वस्तुस्वभाव में मलिनता नहीं है। परमाणु पलटकर वर्ण-गंध-रस-स्पर्श से रहित नहीं होता वैसे ही वस्तुस्वभाव नहीं बदलता। यह तो पर से एकत्व तोड़ने की बात है। अंतर में वास्तविक प्रवेश कर तो (पर से) पृथक्ता हो। ८१.



'मैं तो दर्पण की भाँति अत्यंत स्वच्छ हूँ; विकल्प के जाल से आत्मा मलिन नहीं होता; मैं तो विकल्प से भिन्न, निर्विकल्प आनंदघन हूँ; ज्यों का त्यों पवित्र हूँ।' - इस प्रकार अपने स्वभाव की जाति को पहचान। तू विकल्प से मलिन होकर - मलिनता मानकर भ्रमणा में ठगा गया है; दर्पण की भाँति जाति से तो स्वच्छ ही है। निर्मलता के भण्डार को पहचान तो एक के बाद एक निर्मलता की पर्यायों का समूह प्रगट होगा। अंतर में ज्ञान और आनंदादि की निर्मलता ही भरी है। ८२.



दर्पण में जब प्रतिबिंब पड़े उसी काल उसकी निर्मलता होती है, वैसे ही विभावपरिणाम के समय ही तुझ में निर्मलता भरी है। तेरी दृष्टि चैतन्य की निर्मलता को न देखकर विभाव में तन्मय हो जाती है, वह तन्मयता छोड़ दे। ८६.



कोई किसीका कुछ कर नहीं सकता। विभाव भी तेरे नहीं हैं तो बाह्य संयोग तो कहाँ से तेरे होंगे ? १२७.

जिसने भेदज्ञान की विशेषता की है उसे चाहे जैसे परिषद में

आत्मा ही विशेष लगता है। १५५.



द्रव्य सदा निर्लेप है। स्वयं ज्ञाता भिन्न ही तैरता है। जिस प्रकार स्फटिक में प्रतिबिंब दिखने पर भी स्फटिक निर्मल है, उसी प्रकार जीव में विभाव ज्ञात होने पर भी जीव निर्मल है - निर्लेप है। ज्ञायकरूप परिणमित होने पर पर्याय में निर्लेपता होती है। 'ये सब जो कषाय - विभाव ज्ञात होते हैं वे ज्ञेय हैं, मैं तो ज्ञायक हूँ' ऐसा पहिचाने-परिणमन करे तो प्रगट निर्लेपता होती है। १६२.



पहले ध्यान सच्चा नहीं होता। पहले ज्ञान सच्चा होता है कि - मैं इन शरीर, वर्ण, गंध, रस, स्पर्शादि सब से पृथक् हूँ; अंतर में जो विभाव होता है वह मैं नहीं हूँ; ऊँचे से ऊँचे जो शुभभाव वह मैं नहीं हूँ; मैं तो सब से भिन्न ज्ञायक हूँ। १७८.



निर्विकल्प दशा में 'यह ध्यान है, यह ध्येय है' ऐसे विकल्प टूट चुकते हैं। यद्यपि ज्ञानी को सविकल्प दशा में भी दृष्टि तो परमात्मतत्त्व पर ही होती है, तथापि पंच परमेष्ठी, ध्याता-ध्यान-ध्येय इत्यादि संबंधी विकल्प भी होते हैं; परंतु निर्विकल्प स्वानुभूति होने पर विकल्पजाल टूट जाता है, शुभाशुभ विकल्प नहीं रहते। उग्र निर्विकल्पदशा में ही मुक्ति है। - ऐसा मार्ग है। १८१.



प्रज्ञाछैनी को शुभाशुभ भाव और ज्ञान की सूक्ष्म अंतःसंधि में पटकना। उपयोग को बराबर सूक्ष्म करके उन दोनों की संधि में सावधान होकर उसका प्रहार करना। सावधान होकर अर्थात् बराबर सूक्ष्म उपयोग करके, बराबर लक्षण द्वारा पहचानकर।

अभ्रक के पर्त कितने पतले होते हैं, किन्तु उन्हें बराबर सावधानीपूर्वक अलग किया जाता है, उसी प्रकार सूक्ष्म उपयोग करके

स्वभाव-विभाव के बीच प्रज्ञा द्वारा भेद कर। जिस क्षण विभावभाव वर्तता है उसी समय ज्ञातृत्वधारा द्वारा स्वभाव को भिन्न जान ले। भिन्न ही है परंतु तुझे नहीं भासता। विभाव और ज्ञायक हैं तो भिन्न-भिन्न ही; जैसे पाषाण और सोना एकमेक दिखने पर भी भिन्न ही हैं तदनुसार।

प्रश्न :- सोना तो चमकता है इसलिए पत्थर और सोना - दोनों भिन्न ज्ञात होते हैं, परंतु यह कैसे भिन्न ज्ञात हों ?

उत्तर :- यह ज्ञान भी चमकता ही है न ? विभावभाव नहीं चमकते किंतु सर्वत्र ज्ञान ही चमकता है - ज्ञात होता है। ज्ञान की चमक चारों ओर फैल रही है। ज्ञान की चमक बिना सोने की चमक काहे में ज्ञात होगी ?

जैसे सच्चे मोती और खोटे मोती इकट्ठे हों तो मोती का पारखी उसमें से सच्चे मोतियों को अलग कर लेता है, उसी प्रकार आत्मा को 'प्रज्ञा से ग्रहण करना'। जो जाननेवाला है सो मैं, जो देखनेवाला है सो मैं - इस प्रकार उपयोग सूक्ष्म करके आत्मा को और विभाव को पृथक् किया जा सकता है। यह पृथक् करने का कार्य प्रज्ञा से ही होता है। व्रत, तप या त्यागादि भले हों, परंतु वे साधन नहीं होते, साधन तो प्रज्ञा ही है।

स्वभाव की महिमा से परपदार्थों के प्रति रसबुद्धि - सुखबुद्धि टूट जाती है। स्वभाव में ही रस आता है, दूसरा सब नीरस लगता है। तभी अंतर की सूक्ष्म संधि ज्ञात होती है। ऐसा नहीं होता कि पर में तीव्र रुचि हो और उपयोग अंतर में प्रज्ञाछैनी का कार्य करे।

१९७.



'शुभाशुभभाव से भिन्न, मैं ज्ञायक हूँ यह प्रत्येक प्रसंग में याद रखना। भेदज्ञान का अभ्यास करना ही मनुष्य-जीवन की सार्थकता है। २७६.

स्वयं पर से और विभाव से भिन्नता का विचार करना चाहिए। एकताबुद्धि तोड़ना वह मुख्य है। प्रतिक्षण एकत्व को तोड़ने का अभ्यास करना चाहिए। २८५.



जिसको द्रव्यदृष्टि यथार्थ प्रगट होती है उसे दृष्टि के जोर में अकेला ज्ञायक ही - चैतन्य ही भासता है, शरीरादि कुछ भासित नहीं होता। भेदज्ञान की परिणति ऐसी दृढ़ हो जाती है कि स्वप्न में भी आत्मा शरीर से भिन्न भासता है। दिन को जागृत दशा में तो ज्ञायक निराला रहता है परंतु रात को नींद में भी आत्मा निराला ही रहता है। निराला तो है ही परंतु प्रगट निराला हो जाता है।

उसको भूमिकानुसार बाह्य वर्तन होता है परंतु चाहे जिस संयोग में उसकी ज्ञान-वैराग्यशक्ति कोई और ही रहती है। मैं तो ज्ञायक सो ज्ञायक ही हूँ, निःशंक ज्ञायक हूँ; विभाव और मैं कभी एक नहीं हुए; ज्ञायक पृथक् ही है, सारा ब्रह्माण्ड पलट जाय तथापि पृथक् ही है। - ऐसा अचल निर्णय होता है। स्वरूप-अनुभव में अत्यंत निःशंकता वर्तती है। ज्ञायक ऊपर चढ़कर-ऊर्ध्वरूप से विराजता है; दूसरा सब नीचे रह जाता है। ३८९.



पर से भिन्न ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करके, बारंबार भेदज्ञान का, अभ्यास करते-करते मतिश्रुत के विकल्प टूट जाते हैं, उपयोग गहराई में चला जाता है और भोंयरे में भगवान के दर्शन प्राप्त हों तदनुसार गहराई में आत्मभगवान दर्शन देते हैं। इस प्रकार स्वानुभूति की कला हाथ में आने पर, किस प्रकार पूर्णता प्राप्त हो वह सब कला हाथ में आ जाती है, केवलज्ञान के साथ केलि प्रारंभ होती है। ४०४.



['श्रीमद् राजचंद्र' ग्रंथमें से उद्धृत भेदज्ञान-विषयक रत्न]

स्वद्रव्य और अन्यद्रव्य को भिन्न-भिन्न देखें।
स्वद्रव्य के व्यापक शीघ्र हों।
परद्रव्य की धारकता शीघ्र छोड़ें।
परद्रव्य की ग्राहकता शीघ्र छोड़ें।
(बोधबचन - १०८, ११०, ११५, ११७, १७वाँ वर्ष)



आ जीव ने आ देह एवो, भेद जो भास्यो नहीं;
पचखाण कीधां त्यां सुधी, मोक्षार्थ ते भाख्यां नहीं।
(पत्रांक-२६७, २४वाँ वर्ष)



देह आत्मा नहीं है, आत्मा देह नहीं है। घटादि को देखनेवाला जैसे घटादि से भिन्न है, वैसे देह को देखनेवाला, जाननेवाला आत्मा देह से भिन्न है, अर्थात् देह नहीं है।

विचार करते हुए यह बात प्रगट अनुभवसिद्ध होती है, तो फिर इस भिन्न देह के स्वाभाविक क्षय-वृद्धि-रूपादि परिणाम देखकर हर्ष-शोकवान होना किसी प्रकार से संगत नहीं है; और हमें, आपको वह निर्धार करना, रखना योग्य है, और यह ज्ञानी के मार्ग की मुख्य ध्वनि है। (पत्रांक-४२५, २६वाँ वर्ष)



यह आत्मभाव है और वह अन्यभाव है, ऐसा बोधबीज आत्मा में

परिणमित होने से अन्यभाव में सहज में उदासीनता उत्पन्न होती है, और वह उदासीनता अनुक्रम से उस अन्यभाव से सर्वथा मुक्त करती है। (पत्रांक-५२५, २७वाँ वर्ष)



भास्यो देहाध्यासथी, आत्मा देहसमान।
पण ते बन्ने भिन्न छे, प्रगट लक्षणे भान।।४९।।

जे द्रष्टा छे दृष्टिनो, जे जाणे छे रूप।
अबाध्य अनुभव जे रहे, ते छे जीवस्वरूप।।५१।।

सर्व अवस्थाने विषे, न्यारो सदा जणाय।
प्रगटरूप चैतन्यमय, ए एंधाण सदाय।।५४।। (आत्म-सिद्धि)



देह से जैसा वस्त्र का संबंध है, वैसा आत्मा से देह का संबंध जिन्होंने यथातथ्य देखा है, म्यान से तलवार का जैसा संबंध है वैसा देह से आत्मा का संबंध जिन्होंने देखा है, अबद्ध-स्पष्ट आत्मा का जिन्होंने अनुभव किया है, उन महत्पुरुषों को जीवन और मरण दोनों समान हैं।



चंद्र भूमि को प्रकाशित करता है, उसकी किरणों की कांति के प्रभाव से समस्त भूमि श्वेत हो जाती है, परंतु चंद्र कुछ भूमिरूप किसी काल में नहीं होता; इसी प्रकार समस्त विश्व का प्रकाशक ऐसा यह आत्मा कभी भी विश्वरूप नहीं होता, सदा-सर्वदा चैतन्यस्वरूप ही रहता है। विश्व में जीव अभेदता मानता है यही भ्रांति है।



जैसे आकाश में विश्व का प्रवेश नहीं है, सर्व भाव की वासना से आकाश रहित ही है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि पुरुषों ने सर्व द्रव्य से

भिन्न, सर्व अन्य पर्याय से रहित ही आत्मा देखा है।

(पत्रांक-८३३, ३९वाँ वर्ष)



दूसरे उदय में आये हुए कर्मों का आत्मा चाहे जिस तरह का समाधान कर सकता है, परंतु वेदनीयकर्म में वैसा नहीं हो सकता; और उसका आत्मप्रदेशों से वेदन करना ही चाहिए; और उसका वेदन करते हुए कठिनाई का पूर्ण अनुभव होता है। वहाँ यदि भेदज्ञान संपूर्ण प्रगट न हुआ हो तो आत्मा देहाकार से परिणमन करता है, अर्थात् देह को अपनी मानकर वेदन करता है, जिससे आत्मा की शांति का भंग होता है। ऐसे प्रसंग में जिन्हें संपूर्ण भेदज्ञान हुआ है ऐसे ज्ञानियों को असातावेदनीय का वेदन करते हुए निर्जरा होती है, और वहाँ ज्ञानी की कसौटी होती है। अर्थात् अन्य दर्शनवाले वहाँ उस तरह नहीं टिक सकते, और ज्ञानी इस तरह मानकर टिक सकता है।

(व्याख्यानसार-२, ११/१९)



हे जीव ! स्थिर दृष्टि से तू अंतरंग में देख, तो सर्व परद्रव्य से मुक्त ऐसा तेरा स्वरूप तुझे परम प्रसिद्ध अनुभव में आयेगा।

(आभ्यंतर-परिणामअवलोकन-संस्मरण-पोथी-२ //७)



ज्ञान के अभ्यास से भेदज्ञान होता है व भेदज्ञान के अभ्यास से केवलज्ञान होता है।

(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी)

[द्रव्यदृष्टि-प्रकाशमें से उद्धृत भेदज्ञान-विषयक रत्न]

(शुभाशुभ परिणाम होनेपर अन्तरंग स्थिति बताते हुए कहा :) अशुभपरिणामके कालमें इस ओरका (स्वसन्मुखताके पुरुषार्थका) झुकाव मन्द होता है। शुभपरिणामके कालमें इस ओरका थोड़ा ज़्यादा (पुरुषार्थका) झुकाव होता है। (परन्तु दोनों प्रकारके परिणामोंके कालमें) दृष्टिका झुकाव तो वैसा का वैसा ही है। लड़ाईके कालमें बाहर लड़ाईकी क्रिया होती है और रागमें अशुभरागकी क्रिया होती है; पर 'मैं' तो मेरेमें ही अचल रहता हूँ, मेरेमें तो उस समय भी रागकी क्रियाका अभाव है। ३४.



(भेदज्ञान का स्वरूप :) हर समय विकल्प से भेदज्ञान करना नहीं पड़ता, वो तो सहजरूप से हो जाता है। ३६.



[ज्ञाता-दृष्टाका स्वरूप बताते हुए कहा :] निर्विकल्प अनुभव होते ही ज्ञातादृष्टा हो सकता है। [सिर्फ] ऐसे विकल्पसे ज्ञाता मानकर, होनेवाला था सो हुआ, - ऐसा मानकर [-ऐसे] समाधानमें (जो) सुख मानते हैं; वह (सुख) तो जैसा : अघोरी मांस खानेमें, सूअर विष्टा खानेमें, पतंगा दीपकमें सुख मानता है, - वैसा है। निर्विकल्प अनुभव बिना धारणामें ठीक मानना, सुख मानना, यह तो कल्पना मात्र है; वास्तविक सुख नहीं। १११.



अपने द्रव्यमें एकत्व किए बिना, रागसे और शरीरसे भिन्नता नहीं हो सकती; भले ही 'भिन्न है.... भिन्न है' ऐसा कहे। लेकिन अपने द्रव्यमें एकत्व होते ही सहज भिन्नता हो जाती है, विकल्प उठाना नहीं पड़ता; सहज ही भिन्नता रहती है। १५२.



पहले विकल्प उठे और बाद में समाधान करे कि 'ये स्वतंत्र हैं' (तो यह यथार्थ नहीं) विकल्प के साथ ही साथ उसी क्षण उससे भिन्नता होनी चाहिए। १८४.



प्रश्न :- राग ज्ञेय है, कि दुःखरूप है ?

उत्तर :- इधर (स्वभाव में) आया तो राग ज्ञान में ज्ञेयरूप जानने में आता है, और वेदन में दुःखरूप लगता है। (एक ही समय में ज्ञान के 'जाननेरूप' व 'वेदनेरूप' दो प्रकार के धर्म प्रगट हैं। 'जाननेरूप धर्म' राग को मात्र ज्ञेयरूप जानकर ज्ञाताभाव से वर्तता है। 'वेदनेरूप धर्म' वेदन करता है, तब ज्ञाताभाव होनेपर भी राग की आकुलता का वेदन दुःखरूप लगता है। इस प्रकार ज्ञान के दोनों धर्म एक साथ वर्तते हैं, यही अनेकांत है।) ३३२.



प्रश्न :- उपयोग स्व-सन्मुख होता है तब जो (परसे) भिन्नता भासती है, वैसी (भिन्नता) विकल्प के काल में भासती है क्या ?

उत्तर :- विकल्प के काल में भी प्रत्यक्ष भिन्नता का अनुभव है। मगर उपयोग को क्यों मुख्य करते हो ? 'मैं तो ध्रुवतत्त्व हूँ' इसकी मुख्यता करनी चाहिए। श्रद्धा-ज्ञान विकल्प के काल में (धारणा की माफिक) खाली पड़े हुए नहीं है, लेकिन परिणमनरूप है। ४५९



(राग को) ज्ञान का ज्ञेय....ज्ञान का ज्ञेय कहते हैं, और लक्ष्य राग की ओर है तो वह, सच्चा ज्ञान का ज्ञेय है ही नहीं। (यथार्थता

में तो) ज्ञान का ज्ञेय तो अंदर में सहजरूप हो जाता है।

लक्ष्य बाहर पड़ा हो और 'ज्ञान का ज्ञेय' ऐसा बोले तो मुझे तो खटकता है। वैसे ही 'योग्यता,' 'क्रमबद्ध' आदि सभी में लक्ष्य बाहर पड़ा हो और वैसा कहे तो मुझे खटकता है। ५७९.



'सारा जगत् ज्ञान का ज्ञेय है,' 'अनुकूलता-प्रतिकूलता कुछ नहीं है' - इस अभिप्राय में दृष्टि अभेद होनी चाहिए। दृष्टि में मचक नहीं आनी चाहिए। अभिप्राय में परसे लाभ-नुकसान की मान्यता क्यों ? अभिप्राय में इच्छा व दीनता नहीं होनी चाहिए। (अभिप्राय और दृष्टि साथ वर्तते हैं और तदनुसार ही परिणमन का संचरण / विकास होता है, ऐसा सिद्धांत है।) ५९३.



वर्तमानमें ही परिपूर्ण हूँ। वर्तमानसे ही देवादिक पर अथवा उनआश्रित रागसे किंचित्मात्र लाभका कारण नहीं। लाभ मानना ही अलाभ है। वेदनके अलावा अन्य कोई क्रिया जीवकी नहीं। शरीरआश्रित अथवा परआश्रित आकुलित वेदनको, समकाले ज्ञानवेदन द्वारा, गौण करते-करते नाश करना मुमुक्षुओंका ध्येय है। यह ज्ञानवेदन अखण्ड त्रिकाली अपरिणामी ध्रुव अस्तित्वमयी स्वपनेके अनुभवमें सहज ही उदय होता है। रागसे भेद करता (ज्ञान) निःशंकित निराकुल सुख वेदनके साथ प्रत्यक्ष प्रमाणरूप प्रगट होता है। वृद्धि पामता-पामता अनंत सुख व ज्ञानका लाभ करता है। अप्रसिद्ध अवेदक मुख्य अखण्ड स्वभावमें श्रद्धाके स्वअस्तित्वरूपमें प्रसरते ही प्रसिद्ध वेदन गौण होकर एक ही काल त्रिकाली व वर्तमान दोनों भावोंका अनुभव होता है। यह ही भेदज्ञान है। रागसे पृथक् ज्ञानका अनुभव ऐसे ही होता अन्यथा नहीं। (पत्रांक-३०)



अखण्ड त्रिकाली ज्ञानस्वभाव को ज्ञेय बनाकर, इस आश्रय एकाग्र

हुआ ज्ञानपरिणाम, विभावअंश से भिन्न रहता हुआ, विभाव को परज्ञेय की तरह जानता देखता है - यह ही भेदज्ञान है। साधक को एक ही समय में, एक ही परिणाम में दोनों प्रकार का भिन्न-भिन्न अनुभव होता है व अनाकुल ज्ञानभाव का आकुलित विभावअंश से पृथक् स्वाद का प्रत्यक्ष अंतर भासित होता है। (पत्रांक-३७)



तत्त्वदृष्टि, स्वभावबलमें जमते ही आना-जाना व न आना-जाना, जुदे ज्ञानमें सहज ही मोहभाव प्रतिभासित होते हैं; यह मोहभाव त्रिकालमें पौद्गलिक ही है, तो इनकी पकड़ क्यों ? यह हमारे हैं ही नहीं - ऐसा इनसे भिन्न अनुभव, मात्र हमारा लक्ष्य हो जाना चाहिए। (पत्रांक-४१)



सुद्ध सुछंद अभेद अबाधित,
भेद-विग्यान सुतीछन आरा।
अंतरभेद सुभाव विभाऊ,
करै जड़-चेतनरूप दुफार।।
सो जिन्हके उरमें उपज्यों,
न रुचै तिन्हकौं परसंग-सहारा।
आत्म को अनुभो करि ते,
हरखै परखै परमात्म-धारा।।

समयसार नाटक.

['गुरुदेवश्री के वचनामृत'में से उद्धृत विधि-विषयक रत्न]

निमित्त की अपेक्षा ली जाये तो बंध-मोक्ष दो पक्ष पड़ते हैं और उसकी अपेक्षा न लेकर अकेला निरपेक्ष तत्त्व ही लक्ष में लिया जाये तो स्वपर्याय प्रगट होती है। ८.



अखण्ड द्रव्य और पर्याय दोनों का ज्ञान होनेपर भी अखण्ड स्वभाव की ओर लक्ष रखना, उपयोग की ओर अखण्ड द्रव्य की ओर ले जाना, वह अंतर में समभाव को प्रगट करता है। स्वाश्रय द्वारा बंध का नाश करनेवाली जो निर्मल पर्याय प्रगट हुई उसे भगवान मोक्षमार्ग अर्थात् धर्म कहते हैं। ११.



अध्यात्म में सदा निश्चयनय ही मुख्य है; उसीके आश्रय से धर्म होता है। शास्त्रों में जहाँ विकारी पर्यायों का व्यवहारनय से कथन किया जाये वहाँ भी निश्चयनय को ही मुख्य और व्यवहारनय को गौण करने का आशय है - ऐसा समझना; क्योंकि पुरुषार्थ द्वारा अपने में शुद्धपर्याय प्रगट करने अर्थात् विकारी पर्याय टालने के लिये सदा निश्चयनय ही आदरणीय है; उस समय दोनों नयों का ज्ञान होता है परंतु धर्म प्रगट करने के लिए दोनों नय कभी आदरणीय नहीं हैं। व्यवहारनय के आश्रय से कभी धर्म अंशतः भी नहीं होता, परंतु उसके आश्रय से तो राग-द्वेष के विकल्प ही उठते हैं।

छहों द्रव्य, उनके गुण और उनकी पर्यायों के स्वरूप का ज्ञान कराने के लिये कभी निश्चयनय की मुख्यता और व्यवहारनय की गौणता रखकर कथन किया जाता है, और कभी व्यवहारनय को मुख्य करके तथा निश्चयनय को गौण रखकर कथन किया जाता है; स्वयं विचार करे उसमें भी कभी निश्चयनय की मुख्यता और कभी व्यवहारनय की मुख्यता की जाती है; अध्यात्मशास्त्रों में जीव की विकारी पर्याय जीव स्वयं करता है इसीलिये होती है और वह जीव का अनन्य परिणाम है - ऐसा व्यवहारनय से कहने में - समझाने में आता है; परंतु वहाँ प्रत्येक समय निश्चयनय एक ही मुख्य तथा आदरणीय है ऐसा ज्ञानीयों का कथन है। शुद्धता प्रगट करने के लिये कभी निश्चयनय आदरणीय है और कभी व्यवहारनय आदरणीय है - ऐसा मानना वह भूल है। तीनों काल अकेले निश्चयनय के आश्रय से ही धर्म प्रगट होता है, ऐसा समझना।

साधक जीव प्रारंभ से अंत तक निश्चय की ही मुख्यता रखकर व्यवहार को गौण ही करते जाते हैं, इसलिये साधकदशा में निश्चय की मुख्यता के बल से साधक को शुद्धता की वृद्धि ही होती जाती है और अशुद्धता टलती ही जाती है। इस प्रकार से निश्चय की मुख्यता के बल से पूर्ण केवलज्ञान होने पर वहाँ मुख्य-गौणपना नहीं होता और नय भी नहीं होते। १६.



अनंत गुणस्वरूप आत्मा, उसके एकरूप स्वरूप को दृष्टि में लेकर, उसे (आत्मा को) एक को ध्येय बनाकर उसमें एकाग्रता का प्रयत्न करना ही सर्व प्रथम शांति-सुख का उपाय है। १७.



सहज ज्ञान और आनंदादि अनंत गुणसमृद्धि से भरपूर जो निज ज्ञायक तत्त्व है उसे अपूर्ण, विकारी एवं पूर्ण पर्याय की अपेक्षा बिना लक्ष में लेना सो द्रव्यदृष्टि है, वही यथार्थ दृष्टि है। श्रुतज्ञान के

बल द्वारा प्रथम ज्ञानस्वभाव आत्मा का बराबर निर्णय करके मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान के व्यापार को आत्मसन्मुख किया वह व्यवहार है, - प्रयत्न करना वह व्यवहार है। इन्द्रियों और मन की ओर रुकनेवाला तथा अल्प विकासवाले ज्ञान के व्यापार को स्वोन्मुख करना वह व्यवहार है। सहज शुद्ध पारिणामिकभाव तो परिपूर्ण एकरूप है; पर्याय में अपूर्णता है, विकार है, इसलिये प्रयास करने का रहता है। पर्यायदृष्टि से साध्यसाधक के भेद होते हैं। पर्यायदृष्टि से विकार और अपूर्णता है; उसे तत्त्वदृष्टि के बलपूर्वक हटाकर साधक जीव अनुक्रम से पूर्ण निर्मलता प्रगट करता है। यथार्थदृष्टि होने के पश्चात् साधकदशा बीच में आये बिना नहीं रहती। आत्मा का भान करके स्वभाव में एकाग्र होता है तभी परमात्मरूप समयसार का अनुभव करता है, आत्मा के अपूर्व एवं अनुपम आनंद का अनुभव करता है, आनंद के झरने झरते हैं। ५०.



धर्म माने क्या ? धर्मी जीव किसे कहना ? लोग कहते हैं कि हमें धर्म करना है। तो धर्म कहाँ से होगा ? शरीर, वाणी, रुपया-पैसादि से धर्म नहीं होता; क्योंकि वे सब तो आत्मा से भिन्न अचेतन परद्रव्य हैं, उनमें आत्मा का धर्म विद्यमान नहीं है। तथा मिथ्यात्व, हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्यादि पापभाव या दया, दान, पूजा, भक्ति आदि पुण्यभाव से भी धर्म नहीं होता; क्योंकि वे दोनों विकारी भाव हैं। आत्मा की निर्विकारी शुद्ध दशा ही धर्म है। उसका कर्ता आत्मा स्वयं ही है। वह धर्म वीतराग देव-शास्त्र-गुरु या जिनप्रतिमा आदि कहीं बाहर से नहीं आता किन्तु निज शुद्ध ज्ञायक आत्मा के ही आश्रय से प्रगट होता है। आत्मा ज्ञान तथा आनंदादि निर्मल गुणों का शाश्वत खदान है; सत्समागम से श्रवण-मनन द्वारा उसकी यथार्थ पहिचान करने पर आत्मामें से जो अतीन्द्रिय आनंदयुक्त निर्मल अंश प्रकट हो वह धर्म है। अनादि-अनंत एकरूप चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा

वह अंशी है, धर्मी है तथा उसके आश्रय से जो निर्मलता प्रगट होती है वह अंश है, धर्म है। साधक जीव को आश्रय अंशी का होता है, अंश का नहीं, और वेदन अंश का होता है परंतु उसका आलंबन नहीं होता - उस पर ज़ोर नहीं होता। आलंबन तो सदैव शुद्ध अखण्ड एक परमपारिणामिकभावस्वरूप निज आत्मद्रव्य का ही होता है। उसीके आधार से धर्म कहो या शांति कहो - सब होता है। ९९.



निज स्वरूप का उपयोग वह सुख है; वह आबाल-वृद्ध सब कर सकते हैं। उसके सिवा शांति का अन्य कोई उपाय नहीं है। १३१.



प्रथम स्वरूपसन्मुख होकर निर्विकल्प अनुभूति हो - आनंद का वेदन हो, तभी यथार्थ सम्यग्दर्शन हुआ कहा जाता है। उसके बिना प्रतीति यथार्थ नहीं कही जाती। प्रथम तत्त्वविचार करके दृढ़ निर्णय करे, पश्चात् अनुभूति होती है। तत्त्वनिर्णय में ही जिसकी भूल हो उसको तो यथार्थ अनुभूति कहाँ से होगी ? नहीं होगी। मात्र विकल्पों से तत्त्वविचार करता रहे वह जीव भी सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं होता। अंतर में चैतन्यस्वभाव की महिमा लाकर उसकी निर्विकल्प अनुभूति करना ही सम्यग्दर्शन है। १५६.



'ज्ञानस्वरूप आत्मा है' ऐसे गुणगुणी के भेद का विकल्प, आत्मा का अनुभव करने में बीच में आयेगा अवश्य, परंतु उसका आश्रय सम्यग्दर्शन में नहीं है। सम्यग्दृष्टि उस विकल्परूप व्यवहार की शरण लेकर रुकते नहीं हैं; परंतु उसे भी छोड़ने योग्य समझकर अंतर में शुद्धात्मा का उस विकल्प से भिन्न अनुभव करते हैं। ऐसा अनुभव ही वीतराग का मार्ग है। मोक्षमहल के लिये आत्मा में सम्यग्दर्शनरूपी शिलान्यास करने की यह बात है। समयसार में श्री कुंदकुंदचार्यदेव ने जैनधर्म का रहस्य बतलाते हुए कहा है कि ! -

**व्यवहारनय अभूतार्थ दर्शित, शुद्धनय भूतार्थ है;
भूतार्थके आश्रित जीव सुदृष्टि निश्चय होय है।**

निश्चय-व्यवहार संबंधी सब विवाद सुलझ जायें और आत्मा को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो ऐसे भाव इस गाथा में भरे हैं। १७७.



आत्मा को यथार्थ समझने के लिये प्रमाण, नय, निक्षेपरूप शुभ विकल्प का व्यवहार बीच में आये बिना नहीं रहता, परंतु आत्मा के एकत्व के अनुभव के समय वह विकल्प छूट जाता है इसलिये वह अभूतार्थ है, आत्मा को सहायक नहीं है। वस्तु का अभेदरूप निर्णय करने में तथा उसमें एकाग्ररूप से स्थिर होने में बीच में नव तत्त्व तथा नय, प्रमाणादि के रागमिश्रित विचार आये बिना नहीं रहते; परंतु उनसे अभेद में नहीं पहुँचा जाता। आँगन छोड़े तब घर में प्रवेश होता है, उसी प्रकार व्यवहाररूप आँगन को छोड़े तब स्वभावरूप घर में प्रवेश होता है। १७९.



दुनिया में मेरा ज्ञान प्रसिद्ध हो, दुनिया मेरी प्रशंसा करे और मैं जो कहता हूँ उससे दुनिया खुश हो - ऐसा जिसे अंतर में अभिमान का प्रयोजन हो उसका धारणारूप ज्ञान, भले ही सच्चा हो तो भी, वास्तव में अज्ञान है - मिथ्याज्ञान है। अलंकारिक भाषा में वर्णन करे तो अंतर में वस्तु प्राप्त हो जाये ऐसा नहीं है। भीतर स्वभाव की दृष्टि करे, उसका लक्ष करे, उसका आश्रय करे, उसके सन्मुख जाये, तब अतीन्द्रिय शांति एवं आनंद की प्राप्ति होती है। १८४.



जैसे सिद्धभगवंत किसी के आलंबन बिना स्वयमेव पूर्ण अतीन्द्रिय ज्ञाननंदस्वरूप से परिणामित होनेवाले दिव्य सामर्थ्यवान देव हैं, उसीप्रकार सभी आत्माओं का स्वभाव भी ऐसा ही है। अहा ! ऐसा निरालंबी ज्ञान एवं सुखस्वभावरूप मैं हूँ ! - ऐसा लक्ष में लेते ही जीव का

उपयोग अतीन्द्रिय होकर उसकी पर्याय में ज्ञान तथा आनंद खिल जाते हैं, पूर्व में जिसका कभी अनुभव नहीं हुआ था ऐसी चैतन्यशांति वेदन में आती है; - इस प्रकार आनंद का अगाध समुद्र उसकी प्रतीति में, ज्ञान में तथा अनुभूति में आ जाता है; अपना परम इष्ट ऐसा सुख उसे प्राप्त होता है, और अनिष्ट ऐसा दुःख दूर होता है। १८५.



जड़ शरीर की अंगभूत इन्द्रियाँ सो कोहीं आत्मा के ज्ञान की उत्पत्ति का साधन नहीं हैं। अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभाव को साधन बनाकर जो ज्ञान हो, वही आत्मा को जाननेवाला है। ऐसे ज्ञान की अनुभूति से सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् मुमुक्षु को आत्मा सदा उपयोगस्वरूप ही ज्ञात होता है। १८७.



अनादि-अनंत ऐसा जो एक निज शुद्ध चैतन्यस्वरूप उसका स्वसन्मुख होकर आराधन करना ही परमात्मा होने का सच्चा उपाय है। १८८.



जिसे मोक्ष प्रिय हो उसे मोक्ष का कारण प्रिय होता है, और बंध का कारण उसे प्रिय नहीं होता। मोक्ष का कारण तो आत्मस्वभाव में अंतर्मुख झुकाव करना ही है, तथा बहिर्मुख झुकाव तो बंध का ही कारण है; इसलिये जिसे मोक्ष प्रिय है ऐसे मोक्षार्थी जीव को अंतर्मुख झुकाव की ही रुचि होती है, बहिर्मुख ऐसे व्यवहारभावों की रुचि उसे नहीं होती।

प्रथम अंतर्मुख झुकाव की बराबर रुचि जमना चाहिये; फिर भले भूमिकानुसार व्यवहार भी हो, किन्तु धर्मी को - मोक्षार्थी को वह आदरणीय नहीं है, परंतु वह ज्ञेयरूप तथा हेयरूप है। आदर तथा रुचि तो अंतर्मुख झुकाव की ही होने से, ज्यों-ज्यों वह अंतर्मुख होता

जाता है त्यों-त्यों बहिर्मुख भाव छूटते जाते हैं। इस प्रकार निश्चय-स्वभाव में अंतर्मुख होने पर बहिर्मुख ऐसे व्यवहारभावों का निषेध हो जाता है। - यही मोक्ष की रीति है। २०९.



जिस निज शुद्ध ज्ञायकवस्तु में मिथ्यात्व या रागादि विभाव हैं ही नहीं उसमें रुचि के परिणाम तन्मय होने से मिथ्यात्व दूर होता है; अन्य किसी उपाय से मिथ्यात्व दूर नहीं होता। गुणभेद का विकल्प भी क्या शुद्धवस्तु में है ? - नहीं है; तो उस शुद्धवस्तु की प्रतीति गुणभेद के विकल्प की अपेक्षा नहीं रखती। शुद्धवस्तु में विकल्प नहीं हैं, और विकल्प में शुद्धवस्तु नहीं है। दोनों की भिन्नता जानने से परिणति विकल्पों से हटकर स्वभाव में आयी वहाँ सम्यक्त्व हुआ और मिथ्यात्व टल गया। - यह, मिथ्यात्व टालने की रीति है। उसके लिये, भीतर चिदानंदस्वभाव की अनंत महिमा भासित होकर उसका अनंत रस आना चाहिये, ऐसा करने से परिणाम उसमें तन्मय होते हैं। २५८.



संयोग का लक्ष्य छोड़ दे और निर्विकल्प एकरूप वस्तु है उसका आश्रय ले । 'वर्तमान में त्रिकाली ज्ञायक वह मैं हूँ' ऐसा आश्रय कर। गुण-गुणी के भेद का भी लक्ष छोड़कर एकरूप गुणी की दृष्टि कर। तुझे समता होगी, आनंद होगा, दुःख का नाश होगा। एक चैतन्यवस्तु ध्रुव है, उसमें दृष्टि लगाने से तुझे मुक्ति का मार्ग प्रगट होगा। अभेद वस्तु कि जिसमें गुण-गुणी के भेद का भी अभाव है वहाँ जा, तुझे धर्म होगा, राग से तथा दुःख से छूटने का मार्ग तुझे हाथ लगेगा। २७३.



स्वानुभूति होने पर जीव को कैसा साक्षात्कार होता है ? स्वानुभूति होनेपर, अनाकुल-आह्लादमय, एक, समस्त ही विश्व पर तैरता विज्ञानघन

परमपदार्थ - परमात्मा अनुभव में आता है। ऐसे अनुभव बिना आत्मा सम्यकरूप से दृष्टिगोचर नहीं होता - श्रद्धा में नहीं आता, इसलिये स्वानुभूति के बिना सम्यग्दर्शन का - धर्म का प्रारंभ ही नहीं होता।

ऐसी स्वानुभूति प्राप्त करने के लिये जीव को क्या करना ? स्वानुभूति की प्राप्ति के लिये ज्ञानस्वभावी आत्मा का चाहे जिस प्रकार भी दृढ़ निर्णय करना। ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय दृढ़ करने में सहायभूत तत्त्वज्ञान का - द्रव्यों का स्वयंसिद्ध सत्पना और स्वतंत्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, नव तत्त्व का सच्चा स्वरूप, जीव और शरीर की बिलकुल भिन्न-भिन्न क्रियाएँ, पुण्य और धर्म के लक्षणभेद, निश्चय-व्यवहार इत्यादि अनेक विषयों के सच्चे बोध का - अभ्यास करना चाहिये। तीर्थंकर भगवंतों द्वारा कहे गये ऐसे अनेक प्रयोजनभूत सत्यों के अभ्यास के साथ-साथ सर्व तत्त्वज्ञान का सिरमौर-मुकुटमणि जो शुद्धद्रव्यसामान्य अर्थात् परम पारिणामिकभाव अर्थात् ज्ञायकस्वभावी शुद्धात्मद्रव्यसामान्य - जो स्वानुभूति का आधार है, सम्यग्दर्शन का आश्रय है, मोक्षमार्ग का आलंबन है, सर्व शुद्धभावों का नाथ है - उसकी दिव्य महिमा हृदय में सर्वाधिकरूप से अंकित करने योग्य है। उस निजशुद्धात्मद्रव्यसामान्य का आश्रय करने से ही अतीन्द्रिय आनंदमय स्वानुभूति प्राप्त होती है। २७५.



मैं आत्मा शुद्ध हूँ, अशुद्ध हूँ, बद्ध हूँ, मुक्त हूँ, नित्य हूँ, अनित्य हूँ, एक हूँ, अनेक हूँ इत्यादि प्रकारों द्वारा जिसने प्रथम श्रुतज्ञान द्वारा ज्ञानस्वभावी निज आत्मा का निर्णय किया है ऐसे जीव को, तत्त्वविचार के राग की जो वृत्ति उठती है वह भी दुःखदायक है, आकुलतारूप है। ऐसे अनेक प्रकार के श्रुतज्ञान के भाव को मर्यादा में लाता हुआ, मैं ऐसा हूँ और वैसा हूँ - ऐसे विचार को पुरुषार्थ द्वारा रोकता हुआ, पर की ओर झुकनेवाले उपयोग को स्व की ओर खींचता हुआ, नयपक्ष के आलंबन से होनेवाला जो राग का विकल्प

उसे आत्म के स्वभावरस के भान द्वारा टालता हुआ, श्रुतज्ञान को भी जो आत्मसन्मुख करता है वह, उस काल अत्यंत विकल्परहित होकर तत्काल निजरस से प्रगट होनेवाले, आदि-मध्य-अंत रहित आत्मा के परमानंदस्वरूप अमृतरस का वेदन करता है। २७६.



लेंडीपीपल का दाना आकार में छोटा और स्वाद में अल्प चरपराहटवाला होने पर भी उसमें चौंसठ पहरी चरपराहट की - पूर्ण चरपराहट की शक्ति सदा परिपूर्ण है। इस दृष्टांत से आत्मा भी आकार में शरीरप्रमाण एवं भाव में अल्प होने पर भी उसमें परिपूर्ण सर्वज्ञस्वभाव, आनंदस्वभाव भरा है। लेंडीपीपल को चौंसठ पहर तक घोंटने से उसकी पर्याय में जिस प्रकार पूर्ण चरपराहट प्रगट होती है, उसीप्रकार रुचि को अंतर्मुख मोड़कर स्वरूप का मंथन करते-करते आत्मा की पर्याय में पूर्ण स्वरूप प्रगट हो जाता है। २८०.



प्रश्न :- ज्ञान में राग जानने में आता है। परंतु ज्ञान में राग एकमेक होता है, ऐसा क्यों लगता है ?

उत्तर :- भेदज्ञान के अभाव से अज्ञानी राग और ज्ञान की अति निकटता को देखकर उनको एकमेक मानता है; परंतु राग और ज्ञान एकमेक नहीं है।

-पूज्य गुरुदेवश्री कहानजीस्वामी.

['परमागमसार'ग्रंथमें से उद्धृत विधि-विषयक रत्न]

आत्मा में एक सुखशक्ति नाम का गुण है जिसकी अंतर शक्ति की मर्यादा अनंत है। ऐसे गुण की बुद्धि द्वारा आत्मरूप द्रव्य का आदर करते हुए (ज्ञानीजन) पाँच इन्द्रियों और इन्द्रादि के विषयों को भी हेय जानकर छोड़ते हैं। ६.



(समयसार) संवर अधिकार में तो ऐसा कहा है कि जाननक्रिया आधार है और द्रव्य उसका आधेय है। वहाँ आश्रय की (अवलंबन की) बात नहीं है। परंतु जिसमें जाना जाता है उस अपेक्षा की मुख्यता से वहाँ बात है। ध्रुव वस्तु स्वयं ध्रुव वस्तु को नहीं जानती है परंतु पर्याय में ध्रुव वस्तु जानने में आती है। कार्य में कारण का ज्ञान होता है, ऐसा दर्शाया है। वैसे ही यहाँ भी ऐसा कहा है कि स्वानुभूति से वस्तु प्रकाशमान होती है अर्थात् अनुभूति की पर्याय में ध्रुववस्तु जानने में आती है। परंतु अनुभूति की पर्यायपर दृष्टि करने से ध्रुववस्तु प्रकाशमान होती है, ऐसा यहाँ नहीं कहना है। निर्मल पर्याय वस्तु का आश्रय करती है, तब उस निर्मल पर्याय में वस्तु जानी जाती है। पर्याय जाननेवाली होने से पर्याय द्वारा प्रकाशमान होता है, ऐसा कहा है। ४७.



आत्मवस्तु - जिसके ध्रुवदल में अनंत शांति और अनंत वीतरागता

है - उसका पर्याय में अनुभव नहीं है अर्थात् अनुभव की शक्ति जिसने प्रकट नहीं की और जो राग की रुचि में पड़े हैं, वे जीव चैतन्यचंद्र अर्थात् उपशमरस से भरे हुए भगवान आत्मा के ज्ञानस्वरूप के अनुभव बिना, उसे पा नहीं सकते। दया-दान आदि कोटि उपाय करे, तो भी उसे चैतन्य भगवान प्रकट नहीं होता। राग की क्रिया लाख क्या करोड़ करे तो भी भगवान आत्मा प्रकट हो जाए - ऐसा नहीं है। ७०.



तो उपाय क्या ?...कि जिस दशा की दिशा परओर है, उस दशा की दिशा स्वोन्मुख करे - यही उपाय है। रागादि तो पर वस्तु है, उससे आत्मा संवेद्यमान नहीं होता। 'स्व' स्वयं संवेद्यमान है। स्वयं के द्वारा संवेद्यमान संवेदन में आने योग्य है। आत्मा ज्ञान और आनंद स्वरूप है, उसमें स्वयं के द्वारा एकता करे व विभाव से पृथकता करे - यही उपाय है और यही मोक्ष का मार्ग है। ७१.



ज्ञानस्वरूपी और अतीन्द्रिय आनंदस्वरूपी प्रभु अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय आनंद द्वारा आस्वादन योग्य है। भगवानआत्मा ज्ञान और आनंद स्वरूपी होने से वह ज्ञानगुण द्वारा ही अनुभूत होने योग्य है। वह ज्ञानगुण बिना अनुभूत नहीं होता। कारण कि वह कारणांतर द्वारा अनुभवगम्य ही नहीं यानी कि कारण के अतिरिक्त अर्थात् ज्ञानगुण के अतिरिक्त राग की क्रिया आदि अन्य कारणों द्वारा भगवान आत्मा जानने योग्य नहीं है। ७२.



जिन्हें आत्मा को समझने के लिये अंतर में सच्ची धून और छटपटी लगे, उन्हें अंतर-मार्ग समझ में आये बिना रहे ही नहीं सकता। वे स्वयं की धुन के जोर से अंतर में मार्ग बनाकर आत्मस्वरूप को प्राप्त कर ही लेते हैं। ९५.

ज्ञान की दशा में अनुभूतिस्वरूप भगवान जानने में आने पर भी तूँ उसे क्यों नहीं जानता। अरेरे !! ज्ञानदशा में भगवान जानने में आने पर भी तूँ अनादि से विकल्पाधीन होने से भगवान को नहीं जानता। ज्ञानरूपी दर्पण की स्वच्छता में भगवान आत्मा बिंबित होने पर भी स्वयं को कैसे खबर नहीं होती ? - कि राग के विकल्पवश होने से उसकी नजर में राग ही आते हैं, जिससे भगवान अनुभूत होते हुए भी जानने में नहीं आता। अज्ञानी अनादि से दया-दान आदि विकल्पों का गुलाम होने से ज्ञान की वर्तमान दशा में अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा अनुभूत होने पर भी उसे जानने में नहीं आता। १३१.



प्रश्न :- हम आत्मा का ध्यान तो बहुत करते हैं, फिर भी आत्मा का अनुभव क्यों नहीं होता ?

उत्तर :- आत्मा से सच्चा प्रेम होना चाहिए। जैसे बालक को अपनी प्यारी माँ को और युवक को अपनी प्रिय पत्नी को देखते ही अंतर में आत्मा के प्रति सच्चा प्रेम उमड़े तो आत्म-अनुभव हुए बिना न रहे। आत्म-अनुभव नहीं होता इसका कारण - अभी आत्मा के प्रति सच्चा प्रेम जगा ही नहीं। १५३.



प्रश्न :- आचार्यदेव ने सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए छः मास तक अभ्यास करने का निर्देश दिया है और हमको तो पच्चीस-तीस वर्षों के अभ्यास के बावजूद भी आत्म-अनुभव नहीं होता, तो क्या कमी रह जाती है ?

उत्तर :- अंतर की गहराई से रुचि और लगन होनी चाहिए; बस, इसीकी कमी रह जाती है। छः मास तक अंतर्धून लगनी चाहिए। जो आत्मा को लक्ष्य कर छः मास तक आत्म-धुन लगे तो आत्म-अनुभव हुए बिना नहीं रहे। १५४.

प्रश्न :- सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की विधि क्या है ?

उत्तर :- आत्मा पर का कर्ता नहीं, राग का भी कर्ता नहीं, राग से भिन्न 'ज्ञायकमूर्ति' हूँ - ऐसी अंतर-प्रतीति करना ही विधि है। अहा हा ! ऐसा समय मिला है ! यह तो आत्मा को राग से भिन्न कर लेने का अवसर है। १५६.



प्रश्न :- एकदम से आत्मा में कैसे जाया जाए।

उत्तर :- राग से भिन्न पड़ते ही एकदम से आत्मा में जाया जाता है। मैं यह नहीं, मैं यह नहीं, मैं राग भी नहीं - यह ज्ञानमूर्ति ही मैं हूँ, अंतर में ऐसे उतरते-उतरते आत्मा को पाया जाता है। यद्यपि यह काम अति दुष्कर है - अलौकिक है फिर भी अंतर प्रयत्न से संभव है। १६०.



प्रश्न :- आत्मा को जानने का प्रयत्न करने पर भी वह जानने में क्यों नहीं आता ?

उत्तर :- सच्चा प्रयत्न तो किया नहीं, उल्टी ही कोशिश करता है। पुण्य में एकता करता है, राग में एकत्व कर लाभ मानता है, व्रतादि से लाभ मानकर अभिमान करता है। - इन सभी विपरीत बुद्धियों को छोड़कर ज्ञायकमूर्ति आत्मा के सन्मुख देखे तब ही आत्मा जानने में आता है। १६२.



अनुभव की विधि का वर्णन करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि जीव द्रव्य स्वयं के द्वारा शुद्ध स्वरूप का अनुभव करने में समर्थ है। राग की मंदता थी या बहुत व्रत-तप आदि किए इसलिए आत्मज्ञान हुआ - ऐसा नहीं है। निजस्वरूप का ज्ञान नहीं था तब तक जो जीव अज्ञानवश विकार भावों का वेदन और अनुभव करने में समर्थ था, वह स्वयं ही स्वयं के द्वारा निजशुद्धद्रव्य को अनुभव करने में समर्थ है; परंतु अज्ञानी को निजद्रव्य की सामर्थ्य का भान नहीं

है। १७२.



प्रश्न :- क्या हमारे लिये इस चक्कर से छूटने का कोई रास्ता नहीं है ?

उत्तर :- 'पर से भिन्न हूँ - ऐसा भेदज्ञान करना - संसार चक्र से छूटने का यही एक मात्र रास्ता है, दुःख से छूटने का अन्य कोई रास्ता नहीं है। १७६.



प्रश्न :- सविकल्प द्वारा निर्विकल्प हुआ जाता है न ?

उत्तर :- सविकल्प द्वारा निर्विकल्प हुआ जाता है - इसका अर्थ यह नहीं है कि सविकल्प से निर्विकल्प होते हैं; परंतु निर्विकल्प होने के पूर्व आनेवाले 'मैं शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, ज्ञायक हूँ - ऐसे विकल्पों से भी छूटकर अंतर अभेद स्वभाव का आश्रय लेते ही निर्विकल्प होते हैं, तब उपचार से कहा जाता है कि वह सविकल्प द्वारा निर्विकल्प हुआ। १८०.



भाई ! संयोगों का त्याग हुआ उससे तेरी पर्याय में क्या अंतर पड़ा ? जब बाहर के हीनाधिक संयोगों का लक्ष्य छूट जाए, कषाय की मंदता या तीव्रता का भी लक्ष्य छूट जाए और तेरी पर्याय चैतन्यवस्तु को लक्ष्यकर तद्रूप परिणमित हो तभी मिथ्यात्व का त्याग होता है - यही यथार्थ त्याग है। २४८.



यह आत्मा स्पर्श-रस आदि गुणों से रहित और पुद्गल तथा अन्य चार अजीवों से भिन्न है, उसे भिन्न करने का साधन तो चेतना-गुणमयता है। राग और विकल्प से भी भिन्न करने का साधन तो चेतना-गुणमयता ही है। जानन-शक्ति - चेतना-गुणमय-शक्ति यही आत्मा को अन्य द्रव्यों से भिन्न करने का साधन है। २५४.

सम्यग्दृष्टि का ज्ञान अति सूक्ष्म है, फिर भी वह राग और स्वभाव के बीच की संधि में ज्ञानपर्याय का प्रवेश होते ही प्रथम बुद्धिगम्य भिन्नता करता है। खयाल में आ सके इस प्रकार (प्रथम ही) राग और स्वभाव दोनों को छेदता है। बुद्धिगम्य छेदन याने कि, खयाल में आ सके इस प्रकार दोनों में भिन्नता करता है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की और सम्यग्दर्शन को कायम रखने के मार्ग की यह बात है। प्रथम यह बात सुनें; सुनकर विचार करें, और पीछे प्रयत्न करें। २५८.



प्रश्न :- आप ध्रुवस्वभाव में उपयोग ले जानेको बारंबार कहते हैं, पर ध्रुवस्वभाव देखा हो तो उपयोग ले जाएँ न ?

उत्तर :- ध्रुवस्वभाव की ओर लक्ष्य करे तब पर्याय में ध्रुवस्वभाव दिखे न ! लक्ष्य किये बिना कैसे दिखे, जो ध्रुवस्वभाव की ओर लक्ष्य न करे तो उसे कैसे दिखाई दे ? अंतर में यथार्थ लक्ष्य करे तो उसे ध्रुवस्वभाव दर्शित होगा ही। पर्याय के पीछे द्रव्यस्वभाव विद्यमान है - वहाँ दृष्टि करे तो ध्रुवस्वभाव दर्शित होता ही है। २७५.



ऊपर-ऊपर से पढ़ना-सुनना आदि सब करे तो उससे क्या ? इसे स्वयं अंतर से 'हाँ' आनी चाहिए कि 'राग मैं नहीं हूँ और ज्ञायकस्वरूप ध्रुववस्तु ही मैं हूँ - ऐसे इसके अस्तित्व की अंतर से 'हाँ' आए। 'हाँ' अर्थात् स्वभाव की प्रतीति होकर 'हाँ' आए, तब उसके कल्याण का आरंभ होता है। २७८.



प्रश्न :- ज्ञानी सविकल्प द्वारा निर्विकल्प होते हैं; और सम्यक्-सन्मुख जीव भी सविकल्प द्वारा निर्विकल्प होते हैं; उन दोनों की विधि का प्रकार एक ही है अथवा कोई अंतर है ?

उत्तर :- ज्ञानी सविकल्प द्वारा निर्विकल्प होते हैं उन्हें आत्मा

का लक्ष्य तो हुआ है, आत्मा लक्ष्य में है और उसमें एकाग्रता का विशेष पुरुषार्थ करने पर विकल्पों से छूटकर निर्विकल्प होते हैं। स्वसन्मुख जीव को तो अभी आत्मा का लक्ष्य नहीं हुआ, आत्मा लक्ष्य में नहीं आया, उसने धारणाज्ञान से जाना है (वह) प्रत्यक्ष नहीं हुआ; विकल्पपूर्वक आत्मा का लक्ष्य धारणारूप हुआ है, उसे अंतरपुरुषार्थ उग्र होते-होते सविकल्पता छूटकर निर्विकल्पता होती है (इस प्रकार निर्विकल्प होने की विधि का प्रकार एक होने पर भी ज्ञानियों ने वेदन से आत्मा को जाना है और स्वसन्मुखवाले जीव ने धारणा से - आनंद के वेदन बिना - आत्मा को जाना है)। २९३.



दर्शनमोह को मंद किये बिना वस्तुस्वभाव खयाल में नहीं आता; और दर्शनमोह का अभाव किए बिना आत्मा अनुभव में आ सके, ऐसा नहीं है। ३००.



स्व-पर-प्रकाश का पुँज प्रभु तो शुद्ध ही है, पर जो राग से भिन्न होकर उसकी उपासना करे - उसीके लिए वह शुद्ध है। जिसको समस्त परद्रव्य से भिन्न होकर, स्व में एकाग्रता करते हुए शुद्धता प्रकट होती है उसके लिए वह शुद्ध है। रागादि-विकल्परूप नहीं हुआ है अतः रागादि से भिन्न होकर ज्ञायक की उपासना करने पर जिसको पर्याय में शुद्धता का नमूना हुआ है उसके लिए वह शुद्ध है - ऐसा प्रतीति में आता है। वह शुद्ध है ऐसा विकल्पवालों को (विकल्प की एकतावालों को) प्रतीति में नहीं आता। ३३४.



सर्व प्रथम क्रिया कौन-सी ? - कि सर्व प्रकार से भेदज्ञान में प्रवीण होना ही सर्व प्रथम क्रिया है। "द्रव्य तो त्रिकाली और निरावरण है," पर वर्तमान पर्याय में रागादि को मिश्रित कर रखा है। तो भी भेदज्ञान की प्रवीणता से, "रागदशा की दिशा पर-ओर है व ज्ञान-

दशा स्व-ओर है" - ऐसे दो दशाओं के मध्य प्रज्ञाछैनी लगाने से - भिन्नता का अनुभव हो सकता है। ३४८.



इस प्रकार सर्व प्रकार से भेद-ज्ञान की प्रवीणता से क्या होता है ? - कि "यह अनुभूति है सो ही मैं हूँ" लेकिन व्यवहाररत्नत्रय का राग है सो मैं नहीं" - ऐसे आत्मज्ञान होता है। ज्ञान लक्षण से लक्षित चैतन्यस्वभाव का अनुभव होने पर 'यह अनुभूति ही मैं हूँ' ऐसा सम्यग्ज्ञान होता है। ३४९.



आत्मा अर्चित्य सामर्थ्यवाला है। उसमें अनंत गुण स्वभाव है, उसकी रुचि हुए बिना, उपयोग परमें से पलटकर स्व में नहीं आ सकता। जो पापभावों की रुचि में पड़े हैं, उनकी तो बात ही क्या ! पर पुण्य की रुचिवाले बाह्य त्याग करें - तप करें - द्रव्यलिंग धारण करें तो भी जब तक शुभ की रुचि है; तब - तक उपयोग पर-ओर से पलटकर स्व में नहीं आ सकता। अतः प्रथम पर की रुचि पलटाने से ही उपयोग पर-ओर से पलटकर स्व में आ सकता है। मार्ग की यथार्थ विधि का यही क्रम है। ३६४.



आत्मा की पहचान कराने के लिए "ज्ञान सो आत्मा, ज्ञान सो आत्मा" - ऐसा कहा है। कारण ज्ञान तो प्रकट अंश है, और आनंद का अंश तो प्रकट नहीं है; प्रकट तो आकुलता है; इसीलिए ज्ञान के प्रकट अंश द्वारा आत्मा की पहचान करायी है। ज्ञान के प्रकट अंश को अंतर्मुख करे अर्थात् अखण्ड व स्वाकार हो जाए (द्रव्य-गुण शुद्ध हैं वैसे ही पर्याय भी शुद्ध हो जाती है)। आत्मा को ज्ञान के अंश से पहचान कराने का मूल कारण तो यह है। ३८२.



प्रश्न :- प्रथम अशुभ-राग को टाले और शुभराग करे तो पीछे

शुद्धभाव होता है - ऐसा क्रम तो है न ?

उत्तर :- ऐसा क्रम ही नहीं। सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन प्रकट किया जाता है; बाद में शुभराग एकदम से नहीं टाल सकती; इसलिए पहले अशुभ-राग को टालने पर शुभराग आते हैं। यह साधक के क्रम की बात है। ३९७.



द्रव्य सदा निर्लेप है। किसको ? - कि जो उसे जाने उसको। संयोग और राग पर से दृष्टि हटाकर, एक समय का जिसका अस्तित्व है उसका लक्ष्य छोड़कर, भगवान जो निर्लेप है - उसकी दृष्टि करे तो सम्यक्दर्शन हो। ४९३.



यह आत्मा प्रत्यक्ष है। जैसे सामने में कोई चीज प्रत्यक्ष होती है न ! वैसे ही, यह आत्मा प्रत्यक्ष है - उसे देख ! - ऐसा आचार्यदेव कहते हैं। यह शरीर है, कुटुंब है, धन, मकान, वैभव है - ऐसा तू देखता है, पर ये सब तो तेरे में अत्यंत भिन्न परद्रव्य हैं; उनसे भिन्न यह आत्मा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है - उसे देखे तो, तेरा मोह तुरंत नष्ट हो जाएगा। ४९४.



जाननेवाला...जाननेवाला...जाननेवाला - वह मात्र वर्तमान जितना ही सत् नहीं है। ज्ञायकतत्त्व तो अपना त्रिकाली सत्त्व बता रहा है। ज्ञायक की प्रसिद्धि वर्तमान जितनी ही नहीं, बल्कि वर्तमान है सो तो त्रिकाली ही प्रसिद्ध कर रहा है। ज्ञायक की वर्तमान अस्ति तो त्रिकाली अस्ति - सत् को बतलाती है। ४९८.



मैं जाननेवाला, देखनेवाला ज्ञाता हूँ - ऐसा बारंबार अंतर्मुख अभ्यास करने से ज्ञातापना प्रकट होता है; तभी विकल्प का कर्तृत्व छूटता है। ४२६.



प्रश्न :- जब आत्मा परोक्ष है तो वह कैसे जानने में आये ?

उत्तर :- आत्मा प्रत्यक्ष ही है। पर्याय अंतर्मुख हो तो आत्मा प्रत्यक्ष है - ऐसा जानने में आता है। बहिर्मुख पर्यायवाले को आत्मा प्रत्यक्ष नहीं लगता - प्रत्यक्ष नहीं दिखता, पर आत्मा तो प्रत्यक्ष ही है उसके सन्मुख ढलकर देखे तो जानने में आये। ४३२.



प्रश्न :- ध्रुव में एकाग्रता करने के लिए ध्रुव को कहाँ खोजें ?

उत्तर :- वस्तु स्वयं ही ध्रुव-स्वरूप है। 'वस्तु है ही'; उसे कहाँ खोजने जाना है ? एक समय की पर्याय है, वह किसके आधार से है ? वस्तु है, 'है', और 'है'। प्रथम एक समय की पर्याय में ध्रुव-वस्तु का माहात्म्य भासित होना चाहिए। सर्वज्ञ ने जिसके गुणगान किये हैं, ऐसी अनंत अपार-अपार महिमावाली वस्तु - 'आत्मा है कौन' ? - कि जिसके सामर्थ्य का पार नहीं - जिसकी आश्चर्यता का - अद्भुतता का पार नहीं - जिसकी शक्तियों का पार नहीं - ऐसी महिमावंत वस्तु का ज्ञान (पर्याय में निर्णय) करने पर इस ध्रुव वस्तु की महिमा आती है। यह महिमा आते-आते, जैसा स्वरूप है वैसी महिमा आने पर, पर्याय ध्रुव में ढल जाती है। आहा हा !! अनंत-अनंत गुण का पिण्ड प्रभु है ! इसका प्रत्यक्ष गुण मुक्तस्वरूप है - वीतरागस्वरूप है। - इसका ज्ञान होकर प्रतीति हुयी कि बस ! सब काम हो गया। मुक्ति प्रतीति में आई अर्थात् हाथ में आ गयी। ४४५.



एकांत दुःख के जोर में - राग से पृथक् हो सके, ऐसा संभव नहीं; परंतु द्रव्य-दृष्टि के जोर से राग से भिन्न हो सकता है। आत्मा को पहचाने बिना - जाने बिना - जाएँ कहाँ ! आत्मा को जाना हो, उसका अस्तित्व अनुभूत किया हो तो राग से भिन्न होकर, आत्मा में लीन हो सकते हैं। ४५०.



भगवान की वाणी से नहीं, उनके निमित्त से हुए परलक्ष्यीज्ञान से भी नहीं, परंतु जो स्वलक्ष्यी भावश्रुतज्ञान है उससे आत्मा की अनुभूति होती है। जिस ज्ञान द्वारा आत्मा अनुभूत हो, वह भावश्रुतज्ञान पर की अपेक्षा रहित है। श्रुत भी निरर्थक है, वैसे ही श्रुत से हुआ ज्ञान भी निरर्थक है, याने कि भावश्रुतज्ञान को उसकी अपेक्षा नहीं। ऐसे भावश्रुतज्ञान से आत्मा को जाने या केवलज्ञान से आत्मा को जाने - ऐसे जानने में, अनुभव में अंतर नहीं है। अतः ज्ञान में श्रुत-उपाधिकृत भेद नहीं है। श्रुतज्ञान कहा, इसलिए उसमें श्रुत-उपाधिकृत भेद है - ऐसा नहीं है। ४५७.



भगवान की वाणी श्रुत है - शास्त्र है। शास्त्र पौद्गलिक है जिससे वह, ज्ञान नहीं, उपाधि है और इस श्रुत से होनेवाला ज्ञान - यह भी उपाधि है। क्योंकि श्रुत के लक्ष्यवाला वह ज्ञान, परलक्ष्यीज्ञान है। परलक्ष्यीज्ञान स्व को नहीं जान सकता; अतः उसे भी श्रुत की भाँति उपाधि बतलाया है। जैसे सत्शास्त्र सो ज्ञान नहीं, व्यर्थ की चीज है, उपाधि है; वैसे ही यह श्रुत से हुआ ज्ञान भी निरर्थक है, उपाधि है। आहा हा ! वीतराग की क्या शैली है ! परलक्ष्यीज्ञान को भी श्रुत (शास्त्र) की भाँति उपाधि कहते हैं। स्वज्ञानरूप ज्ञप्ति क्रिया द्वारा आत्मा अनुभूत होता है। भगवान की वाणी द्वारा आत्मा अनुभूत नहीं होता। ४६०.



प्रश्न :- आत्मज्ञान करने के लिए बहुत-बहुत शास्त्रों का अभ्यास करना पड़ता है, इसकी जगह अन्य कोई सरल मार्ग बतलाइए न ?

उत्तर :- आत्मज्ञान के लिए बहुत शास्त्र पढ़ने की बात कहाँ है ? तेरी पर्याय दुःख के कारणों की ओर ढलती है, उसे सुख के कारणभूत स्वभाव-सन्मुख ढाल - इतनी ही बात है। स्वयं

भगवानआत्मा ! अनंत-अनंत गुण संपन्न ज्ञानानंदस्वरूप है, इसकी महिमा लाकर स्व-सन्मुख हो - इतनी-सी बात है। तेरी ज्ञान-पर्याय को द्रव्यसन्मुख ढालना - यही संक्षिप्त और यथार्थ बात है। ४६२.



प्रश्न :- मोक्ष का कारण समभाव है। यह समभाव करे तो मोक्ष हो न ?

उत्तर :- समभाव यानी वीतरागता। यह वीतरागता तो द्रव्य को लक्ष्य में लेने पर हो। द्रव्य के आश्रय बिना वीतरागता नहीं होती। समभाव का कारण तो वीतरागस्वभावी भगवान आत्मा है। उसका आश्रय करना व पर का आश्रय छोड़ना - यह संक्षिप्त से संक्षिप्त है। ५६२.



भूतार्थ आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है। ६०८.



जाननक्रिया तो निजस्वरूप है, कारण कि उसीसे आत्मा जाना जाता है; अतः आत्मा उसीके आधार से अवस्थित है। ६१२.



ज्ञान के अभ्यास से भेदज्ञान होता है व भेदज्ञान के अभ्यास से केवलज्ञान होता है। ६१३.



जिसे तत्त्वज्ञान नहीं है उसका आचरण भी यथार्थ नहीं होता। जैनमत में तो ऐसा क्रम है कि सर्व प्रथम तत्त्वज्ञान होता है और पश्चात् जिसका त्याग करना है उसके दोष को जाने-पहचाने तथा दोष-नाश से प्रकट होनेवाले गुणों को भी यथार्थरूप से जाने। ६५८.



इकाई लिखना सीखने के लिए पांच सौ रूपया देना अथवा पचास उपवास करना कोई कार्यकारी नहीं; केश-लौच से भी इकाई लिखना

नहीं आता। इकाई लिखने के ज्ञानद्वारा ही इकाई का अज्ञान दूर होता है। वैसे ही अरबों रुपयों का दान व तप करने से धर्म की इकाई भी नहीं आती; परंतु ज्ञान करने से स्वरूप समझ में आता है। दया-दान-व्रत से शांति व धर्म नहीं मिलता, उनसे रहित 'मेरा चैतन्य निराला है' - ऐसी प्रतीति होने को ही धर्म कहते हैं; उसके बिना सुख नहीं होता। ६६५.



(आत्मा) स्वयं त्रिकाल - शक्तिमान है। गुणरूप त्रिकाली शक्ति व पर्याय अर्थात् वर्तमान-दशा - ऐसे द्रव्य-गुण-पर्याय के विचारपूर्वक निजपद को जानना होता है; निमित्त अथवा राग द्वारा जानना नहीं बतलाया है। इस प्रकार निजपद को जानने की विधि बतलायी है। उपयोग में जाननस्वरूप - वस्तु को जाने, अंतर में जानने-देखने के होनेवाले व्यापार द्वारा वस्तु को जाने, कि वस्तु ज्ञायक है; - यही निजस्वरूप को जानने की कला है, इसीका नाम धर्म है। चलती पर्याय में जाननस्वरूप - वस्तु को जाने कि जाननेवाला स्वभाव, नित्यानंद पदार्थ है - वह आत्मा, पर्याय का आधार अथवा नाथ है।

६७९.



सर्वज्ञ परमात्मा द्वारा कथित पदार्थ के स्वरूप के अनुसार आचार्य-रचित शास्त्र का सम्यक् रूप से अवगाहन करना, संगोपांग समझना ही साधकता है। जैसे गहरे दरिया (समुद्र) में अवगाहन करने से मोती मिलते हैं, वैसे ही शास्त्र - विषय में सम्यक् प्रकार प्रवेश करे, अवलोकन करे तो भावश्रुत प्रकट होता है। ६९८.



ज्ञानद्वार में, स्वरूप-शक्ति को जानना। ज्ञान लक्षण व लक्ष्यरूप आत्मा अपने ज्ञान में भासित होते हैं तब सहज आनंदधारा बहती है - वही अनुभव है। ७१०.



प्रश्न :- प्रथम चारित्र ले लेवे व बाद में सम्यक्त्व करे तो ?
उत्तर :: जैसे जमीन - बिना वृक्ष नहीं उगता, वैसे ही 'मैं अखण्ड चैतन्य हूँ' - ऐसी प्रतीति - बिना चारित्र कहाँ से हो ? - नहीं होता है। चारित्र अर्थात् चरना, स्थिर होना - किस में... देह में ? - वह तो जड़ है। पुण्य-पाप विकार हैं। शुद्ध चैतन्य-स्वरूप की प्रतीति होने के बाद, अंतर में लीनता हो - वही चारित्र है। ७१८.



परद्रव्य-ओर की वृत्ति अशुभ हो चाहे शुभ - पर वह आत्मा नहीं है; स्व-रूप से अनुभव में आता हुआ ज्ञान ही आत्मा है, ऐसे ज्ञान के स्वसंवेदन की कला ही मोक्ष की कला है। आत्मानुभव की यह कला ही सच्ची कला है, उसका बारंबार अभ्यास करना योग्य है। दुःख से छूटना हो व सुखी होना हो तो परभावों से भिन्न आत्मा को जानकर उसीका अभ्यास करना योग्य है। ७३३.



बहुत जीव विकल्प का अभाव करना चाहते हैं; तथा स्थूल विकल्प अल्प हो जानेपर, विकल्प का अभाव मानते हैं। परंतु वास्तव में जिसका विकल्प का अभाव करने पर लक्ष्य है, उसके विकल्प का अभाव नहीं होता। लेकिन जिसमें विकल्प का ही अभाव है - ऐसे शुद्ध चैतन्य को लक्ष्य में लेकर एकाग्र होने से विकल्प का अभाव हो जाता है। मैं इस 'विकल्प का निषेध करूँ' जिसका ऐसे विकल्प का निषेध करने की ओर लक्ष्य है; उसका लक्ष्य शुद्ध आत्मा की ओर उन्मुख ही नहीं हुआ, उल्टे विकल्प की ओर ही झुका है। अतः उसके तो विकल्प की ही उत्पत्ति होगी। 'शुद्ध आत्म-द्रव्य की ओर ढलना ही विकल्प के अभाव होने की रीति है।' उपयोग का झुकाव अंतर्मुख स्वभाव - ओर होने पर विकल्प छूट जाते हैं। ७४०.



पहले आत्मस्वभाव का श्रवण-मननकर उसे लक्ष्य में लिया हो तथा उसकी महिमा भासित हुयी हो तो, उसमें अंतर्मुख होकर विकल्प का अभाव कर सके। परंतु आत्मस्वभाव की महिमा लक्ष्य में लिए बिना, किसके अस्तित्व में एकत्व कर, विकल्प का अभाव करेगा 'विकल्प का अभाव करना' यह भी उपचार-कथन है। वास्तव में विकल्प का अभाव करना नहीं पड़ता; परंतु जो परिणति अंतरस्वभाव सन्मुख हुई है, वह परिणति स्वयं ही विकल्प के अभाव-स्वरूप है। उसमें विकल्प है ही नहीं, तो अभाव किसका करना ? विकल्प की उत्पत्ति ही नहीं, इस अपेक्षा से विकल्प का अभाव किया कहलाता है। पर ऐसा नहीं है कि उस समय विकल्प था व उसका अभाव किया है। ७४९.



यदि आत्मा को शांति चाहिए तो वह शांति तो ऐसी होनी चाहिए कि जो पूर्ण और सादि-अनंत काल पर्यंत रहे। ऐसी शांति किसको हो ? - कि जिसने अंतर्मुखवृत्ति और विकल्प - द्वारा आत्मा की ओर झुककर यह निर्णय किया कि औपाधिकभाव हैं सो छोड़ने योग्य हैं व निरूपाधिकभाव आदरणीय हैं - द्रव्यश्रुत - द्वारा ऐसा निर्णय किया। ऐसा निर्णय करनेवाले को यह भी निश्चित हो जाता है कि देव-गुरु-शास्त्र कैसे हों ? ऐसा द्रव्यश्रुत के ज्ञानवाला यदि निर्विकल्प-भावश्रुतज्ञान द्वारा आत्मा को दृष्टिगत करे तो वह ऐसी शांति के कारण को प्रकट कर, पूर्ण शांति प्राप्त करता है। ८५०.



सबका सार यह है कि तेरा पर को जानने का तथा पर में स्वाद मानकर राग का स्वाद लेने का मार्ग शांति का नहीं है, जिस कारण से तू दुःखी हो रहा है। (तुझे) न तो विषयों का स्वाद है और न ही विषयों का ज्ञान; परंतु राग का स्वाद है तथा ज्ञान का ज्ञान। विषय पर है, राग क्षणिक है व स्वभाव में नहीं है। ज्ञान-

पर्याय ज्ञानस्वभाववान की है। इस प्रकार राग-रहित नित्य ज्ञान-स्वभावी की दृष्टि होती है। ऐसा समझे तो निमित्त-बुद्धि व रागबुद्धि छूटकर स्वभाव-बुद्धि होती है, धर्म होता है। ८६५.



वीतराग के मार्ग में तो सम्यग्दृष्टि की प्राथमिकता है। प्रथम तो भेदज्ञान होना चाहिए। ऐसा सम्यक्त्व तो स्व-पर का श्रद्धान होने पर होता है। तथा वैसा श्रद्धान द्रव्यानुयोग का भावभ्यास करने से होता है। अतः द्रव्यानुयोग - अनुसार श्रद्धान कर सम्यग्दृष्टि होना सो प्रारंभिक धर्म है, तत्पश्चात् व्रतादि होते हैं। ९१९.



जीव क्या व अजीव क्या ? - यह तो न जाने, तथा शरीर के रोगों को दूर करने अथवा धनोपार्जन आदि उपायों से अपने दुःख दूर करना चाहे, तो वे उपाय तो झूठे हैं। दुःख तो जीव में है और वह मोह के कारण है, अतः उस दुःख का जीव में यथार्थ भानकर, मोह का नाश करना ही दुःख दूर करने का उपाय है। ९२७.



केवलज्ञान की पर्याय को भी न देख। पूर्व में अवस्था शुद्ध न थी, व बाद में शुद्ध हुई - ऐसे भेद को न देख । गुप्त व प्रकट-अवस्थारूपी भेद यानी कि द्रव्य व पर्याय के भेद को न देख ! एक समय में विकार होने पर भी शक्ति तो ऐसी की ऐसी ही है; और अवस्था प्रकट हुई तब भी शक्ति ज्योंकी त्यों है - ऐसी श्रद्धा सुख का मूल है। ९४९.



प्रतिज्ञा तो तत्त्वज्ञानपूर्वक होनी चाहिए। सम्यग्दर्शन होने के बाद व्रतादि के शुभविकल्प आते हैं। आनंदस्वभाव में लीन होऊँ - धर्मी को ऐसी भावना होती है। प्रतिज्ञा - लिए बिना, आसक्ति का नाश

नहीं होता। प्रथम तो स्वभाव का भान होना चाहिए। ९४९.

अज्ञानी, स्वभाव-सन्मुखता का प्रयत्न नहीं करता वरन राग ही के साधन पकड़ता है, अतः उसका भ्रम दूर नहीं होता। यदि स्वभाव के आश्रय-पूर्वक निर्णय करे तो भव्य-अभव्य विषयक शंका नहीं रहती। जो सत्-उपदेश सुनकर निर्णय करे, उसकी भ्रमणा दूर हो जाती है। स्वभाव-सन्मुख होकर निर्णय करने से वर्तमान परिणाम में विशुद्धता होती जाती है। ९६१.



सातों तत्त्वों को जाने बिना, आत्मा की श्रद्धा नहीं होती। एक जीव तत्त्व को जानने में सातों ही तत्त्वों का ज्ञान हो जाता है। जीव-तत्त्व केवल सामान्यस्वरूप ही नहीं परंतु अपने विशेषों - सहित है। जीव-अजीव सामान्य हैं तथा आस्रवादि शेष पांच तत्त्व उनके विशेष हैं। अज्ञानीजन उन्हें जाने बिना ही व्रत-तप में धर्म मानते हैं। नय-निक्षेप-प्रमाण द्वारा रागरहित - वस्तु का ज्ञान करना, वह प्रथम योग्यता है; तत्पश्चात् स्वभाव के लक्ष्य से राग का अभाव होता है - यह प्रयोजनभूत व कीमती बात है। यह बात रह जाए, तो फिर कुछ भी कार्यकारी नहीं है। ९७१.



निर्विकल्प-दशा प्रकट होने की अपेक्षा से नव - तत्त्वों के विकल्प छोड़ने की बात की है। नवतत्त्वों का ज्ञान तो है परंतु उनके भेदों के लक्ष्य से राग होता है अतः उन्हें छोड़ने का निर्देश दिया है। ज्ञान, नव - तत्त्वों को जाने सो राग का कारण नहीं है वरन् वह तो निश्चय सम्यक्त्व है। नव तत्त्वों का ज्ञान तो यथार्थरूप से करना है, परंतु उन के विषय में उठने वाले विकल्पों का निषेध किया है। ९७३.



आत्मा के आश्रय से प्रकट हुए ज्ञान द्वारा ही निर्णय होता है।

....आत्मा के ही आश्रय से ज्ञान विकसित होता है, उसमें शास्त्राभ्यास तो निमित्तमात्र है। आत्मा के आश्रय से निर्णय होता है, इसी बात को निमित्त-अपेक्षा से कहते हैं कि शास्त्र के अभ्यास से निर्णय होता है। ९८६.



प्रथम सुद्रष्टिसौं सरीररूप कीजै भिन्न,
तामें और सूच्छम सरीर भिन्न मानिये।
अष्ट कर्म भावकी उपाधि सोऊ कीजै भिन्न,
ताहूमें सुबुद्धि कौ विलास भिन्न जानिये।
तामें प्रभु चेतन विराजत अखण्डरूप,
वहै श्रुत ग्यान के प्रवांन उर आनिये।
वाहीकौ विचार करि वाहीमें मगन हूजै,
वाको पद साधिवेकौं ऐसी विधि ठानिये॥

-समयसार नाटक.

भेदज्ञान साबू भयौ, समरस निरमल नीर।
धोबा अंतर आतमा, धोवै निजगुन चीर॥

- समयसार नाटक.

['बहिनश्री के वचनामृत'में से उद्धृत विधि-विषयक रत्न]

जो प्रथम उपयोग को पलटना चाहता है परंतु अंतरंग रुचि को नहीं पलटता, उसे मार्ग का खयाल नहीं है। प्रथम रुचि को पलटे तो उपयोग सहज ही पलट जायगा। मार्ग की यथार्थ विधि का यह क्रम है। ३६.



'मैं तो उदासीन ज्ञाता हूँ ऐसी निवृत्त दशा में ही शांति है। स्वयं अपने को जाने और पर का अकर्ता हो तो मोक्षमार्ग की धारा प्रगटे और साधकदशा का प्रारंभ हो। ८४.



ध्रुवतत्त्व में एकाग्रता से ही निर्मल पर्याय प्रगट होती है, विभाव का अभाव होता है। ९४.



जैसे लेंडीपीपर की घुटाई करने से चरपराहट प्रगट होती है, उसी प्रकार ज्ञायकस्वभाव की घुटाई करने से अनंतगुण प्रगट होते हैं। १३२.



कोई द्रव्य अपने स्वरूप को नहीं छोड़ते। आत्मा तो परम शुद्ध तत्त्व है; उसमें क्षायोपशमिकादि भाव नहीं हैं। तू अपने स्वभाव को पहिचान। अनंतगुणरत्नों की माला अंतर में पड़ी है उसे पहिचान।

आत्मा का लक्षण-त्रैलालिक स्वरूप पहिचानकर प्रतीति कर। १४६.



रागी हूँ या नहीं - उन सब विकल्पों के उस पार में शुद्ध तत्त्व हूँ। नयों से अतिक्रान्त चैतन्य विराजमान है। द्रव्य का अवलंबन कर तो चैतन्य प्रगट होगा। १४९.



आत्मा को पहिचानकर स्वरूपरमणता की प्राप्ति करना ही प्रायश्चित्त है। १५२.



हे शुद्धात्मा ! तू मुक्तस्वरूप है। तुझे पहिचानने से पाँच प्रकार के परावर्तनों से छुठकारा होता है इसलिये तू संपूर्ण मुक्ति का दाता है। तुझ पर निरंतर दृष्टि रखने से, तेरी शरण में आने से, जन्म-मरण मिटते हैं। १६६.



ज्ञातापने के अभ्यास से ज्ञातापना प्रगट होने पर कर्तापना छूटता है। विभाव अपना स्वभाव नहीं है इसलिये कहीं आत्मद्रव्य स्वयं उछलकर विभाव में एकमेक नहीं हो जाता, द्रव्य तो शुद्ध रहता है; मात्र अनादिकालीन मान्यता के कारण 'पर ऐसे जड़ पदार्थ को मैं करता हूँ, रागादि मेरा स्वरूप है, मैं सचमुच विभाव का कर्ता हूँ' इत्यादि भ्रमणा हो रही है। यथार्थ ज्ञातृत्वधारा प्रगट हो तो कर्तापना छूटता है। १९८.



'मैं मुक्त ही हूँ। मुझे कुछ नहीं चाहिये। मैं तो परिपूर्ण द्रव्य को पकड़कर बैठा हूँ।' - इस प्रकार जहाँ अंतर में निर्णय करता है, वहाँ अनंत विभूति अंशतः प्रगट हो जाती है। २४५.



शुद्धात्मा को जाने बिना भले ही क्रिया के ढेल लगा दे, परंतु

उससे आत्मा नहीं जाना जा सकता; ज्ञान से ही आत्मा जाना जा सकता है। २६०.



विचार, मंथन सब विकल्परूप ही है। उससे भिन्न विकल्पातीत एक स्थायी ज्ञायक तत्त्व सो आत्मा है। उसमें 'यह विकल्प तोड़ दूँ, यह विकल्प तोड़ दूँ' वह भी विकल्प ही है; उसके उस पार भिन्न ही चैतन्यपदार्थ है। उसका अस्तित्वना ख्याल में आये, 'मैं भिन्न हूँ, यह मैं ज्ञायक भिन्न हूँ' ऐसा निरंतर घोटन रहे, वह भी अच्छा है। पुरुषार्थ की उग्रता तथा उस प्रकार का आरंभ हो तो मार्ग निकलता ही है। पहले विकल्प नहीं टूटता परंतु पहले पक्का निर्णय आता है। २७९.



रुचि का पोषण और तत्त्व का मंथन चैतन्य के साथ एकाकार हो जाय तो कार्य होता ही है। अनादि के अभ्यास से विभाव में ही प्रेम लगा है उसे छोड़। जिसे आत्मा रुचता है उसे दूसरा नहीं रुचता और उससे आत्मा गुप्त - अप्राप्य नहीं रहता। जागता जीव विद्यमान है वह कहाँ जायेगा ? अवश्य प्राप्त होगा ही। ३०६.



अनादि काल से एकत्वपरिणमन में सब एकमेक हो रहा है, उसमें से 'मैं मात्र ज्ञानस्वरूप हूँ' इस प्रकार भिन्न होना है। गोसलिया के दृष्टांत की भाँति जीव विभाव में मिल गया है। जिस प्रकार गोसलियाने अपनी कलाई में बँधा हुआ डोरा देखकर अपने को भिन्न पहिचान लिया, उसी प्रकार 'ज्ञानडोरा' की ओर यथार्थ लक्ष्य करके 'मैं मात्र ज्ञानस्वरूप हूँ' इस प्रकार अपने को भिन्न पहिचान लेना है। ३१२.



जीव अपनी लगन से ज्ञायकपरिणति को प्राप्त करता है। मैं ज्ञायक हूँ, मैं विभावभाव से भिन्न हूँ, किसी भी पर्याय में अटकनेवाला मैं

नहीं हूँ, मैं अगाध गुणों से भरा हूँ, मैं ध्रुव हूँ, मैं शुद्ध हूँ, मैं परिमपारिणामिकभाव हूँ - इस तरह, अनेक प्रकार के विचार सम्यक् प्रतीति की लगनवाले आत्मार्थी को आते हैं। परंतु उनके निमित्त से उत्पन्न होनेवाली सम्यक् प्रतीति का तो एक ही प्रकार होता है। प्रतीति के लिये होनेवाले विचारों के सर्व प्रकारों में 'मैं ज्ञायक हूँ' यह प्रकार मूलभूत है। ३१८.



जीवों को ज्ञान और क्रिया के स्वरूप की खबर नहीं है और 'स्वयं ज्ञान तथा क्रिया दोनों करते हैं' ऐसी भ्रमणा का सेवन करते हैं। बाह्य ज्ञान को, भंगभेद के प्रश्नोत्तरों को, धारणाज्ञान को वे 'ज्ञान' मानते हैं और परद्रव्य के ग्रहण-त्याग को, शरीरादि की क्रिया को, अथवा अधिक करें तो शुभ भाव को, वे क्रिया कल्पते हैं। 'मुझे इतना आता है, मैं ऐसी कठिन क्रियाएँ करता हूँ' इस प्रकार वे मिथ्या संतोष में रहते हैं।

ज्ञायक की स्वानुभूति के बिना 'ज्ञान' होता नहीं है और ज्ञायक के दृढ़ आलंबन द्वारा आत्मद्रव्य स्वभावरूप से परिणमित होकर जो स्वभावभूत क्रिया होती है उसके सिवा 'क्रिया' है नहीं। पौद्गलिक क्रिया आत्मा कहाँ कर सकता है ? जड़ के कार्यरूप तो जड़ परिणमित होता है; आत्मा से जड़ के कार्य कभी नहीं होते। 'शरीरादि के कार्य मेरे नहीं हैं और विभाव कार्य भी स्वरूपपरिणति नहीं है, मैं तो ज्ञायक हूँ' - ऐसी साधक की परिणति होती है। सच्चे मोक्षार्थी को भी अपने जीवन में ऐसा घुँट जाना चाहिये। भले प्रथम सविकल्परूप हो, परंतु ऐसा पक्का निर्णय करना चाहिये। पश्चात् जल्दी अंतर का पुरुषार्थ करे तो जल्दी निर्विकल्प दर्शन हो, देर करे तो देर से हो। निर्विकल्प स्वानुभूति करके, स्थिरता बढ़ाते-बढ़ाते, जीव मोक्ष प्राप्त करता है। - इस विधि के सिवा मोक्ष प्राप्त करने की अन्य कोई विधि नहीं है। ३५०.

सर्वोत्कृष्ट महिमा का भंडार चैतन्यदेव अनादि-अनंत परमपारिणामिकभाव में स्थित है। मुनिराज ने (नियमसार के टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने) इस परमपारिणामिकभाव की धुन लगायी है। यह पंचमभाव पवित्र है, महिमावंत है। उसका आश्रय करने से शुद्धि के प्रारंभ से लेकर पूर्णता प्रगट होती है।

जो मलिन हो, अथवा जो अंशतः निर्मल हो, अथवा जो अधूरा हो अथवा जो शुद्ध एवं पूर्ण होने पर भी सापेक्ष हो, अध्रुव हो और त्रैकालिक-परिपूर्ण-सामर्थ्यवान न हो, उसके आश्रय से शुद्धता प्रगट नहीं होती; इसलिये औदयिकभाव, क्षायोपशमिकभाव, औपशमिकभाव और क्षायिकभाव अवलंबन के योग्य नहीं हैं।

जो पूरा निर्मल है, परिपूर्ण है, परम निरपेक्ष है, ध्रुव है और त्रैकालिक-परिपूर्ण-सामर्थ्यमय है - ऐसे अभेद एक परमपारिणामिकभाव का ही - पारमार्थिक असली वस्तु का ही - आश्रय करने योग्य है, उसीकी शरण लेने योग्य है। उसीसे सम्यग्दर्शन से लेकर मोक्ष तक की सर्व दशाएँ प्राप्त होती हैं।

आत्मा में सहजभाव से विद्यमान ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनंद इत्यादि अनंत गुण भी यद्यपि पारिणामिकभावरूप ही हैं तथापि वे चेतन्यद्रव्य के एक-एक अंशरूप होने के कारण उनका भेदरूप से अवलंबन लेने पर साधक को निर्मलता परिणमित नहीं होती।

इसलिये परमपारिणामिकभावरूप अनंतगुणस्वरूप अभेद एक चेतनद्रव्य का ही - अखण्ड परमात्मद्रव्य का ही - आश्रय करना, वहीं दृष्टि देना, उसीकी शरण लेना, उसीका ध्यान करना, कि जिससे अनंत निर्मल पर्यायें स्वयं खिल उठें।

इसलिये द्रव्यदृष्टि करके अखण्ड एक ज्ञायकरूप वस्तु को लक्ष्य में लेकर उसका अवलंबन करो। वही, वस्तु के अखण्ड एक परमपारिणामिकभाव का आश्रय है। आत्मा अनंतगुणमय है परंतु द्रव्यदृष्टि गुणों के भेदों का ग्रहण नहीं करती, वह तो एक अखण्ड त्रैकालिक

वस्तु को अभेदरूप से ग्रहण करती है।

यह पंचम भाव पावन है, पूजनीय है। उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, सच्चा मुनिपना आता है, शांति और सुख परिणमित होता है, वीतरागता होती है, पंचम गति की प्राप्ति होती है। ३५३.



सब तालों की कुंजी एक - 'ज्ञायक का अभ्यास करना।' इससे सब ताले खुल जायँगे। जिसे संसार-कारागृह से छूटना हो, मुक्तिपुरी में जाना हो, उसे मोह-राग-द्वेषरूप ताले खोलने के लिए ज्ञायक का अभ्यास करने रूप एक ही कुंजी लगानी चाहिये। ३७३.



जीव भले ही चाहे जितने शास्त्र पढ़ ले, वाद-विवाद करना जाने, प्रमाण-नय-निक्षेपादि से वस्तु की तर्कणा करे, धारणारूप ज्ञान को विचारों में विशेष-विशेष फेरे, किन्तु यदि ज्ञानस्वरूप आत्मा के अस्तित्व को न पकड़े और तद्रूप परिणमित न हो, तो वह ज्ञेयनिमग्न रहता है, जो जो बाहर का जाने उसमें तल्लीन हो जाता है, मानों ज्ञान बाहर से आता हो ऐसा भाव वेदता रहता है। सब पढ़ गया, अनेक युक्ति-न्याय जाने, अनेक विचार किये, परंतु जाननेवाले को नहीं जाना, ज्ञान की असली भूमि दृष्टिगोचर नहीं हुई, तो वह सब जानने का फल क्या ? शास्त्राभ्यासादि का प्रयोजन तो ज्ञानस्वरूप आत्मा को जानना है। ३८९.



ज्ञायकस्वभाव आत्मा का निर्णय करके, मति-श्रुतज्ञान का उपयोग जो बाह्य में जाता है उसे अंतर में समेट लेना, बाहर जाते हुए उपयोग को ज्ञायक के अवलंबन द्वारा बारंबार अंतर में स्थिर करते रहना, वही शिवपुरी पहुँचने का राजमार्ग है। ज्ञायक आत्मा की अनुभूति वही शिवपुरी की सड़क है, वही मोक्ष का मार्ग है। दूसरे सब उस मार्ग का वर्णन करने के भिन्न-भिन्न प्रकार हैं। जितने वर्णन के प्रकार

हैं, उतने मार्ग नहीं हैं; मार्ग तो एक ही है। ३८३.



जीवने अनंत काल में अनंत बार सब कुछ किया परंतु आत्मा को नहीं पहिचाना। देव-गुरु क्या कहते हैं वह बराबर जिज्ञासा से सुनकर, विचारा करके, यदि आत्मा की ठोस भूमि जो आत्म-अस्तित्व उसे खयाल में लेकर निजस्वरूप में लीनता की जाय तो आत्मा पहिचानने में आये - आत्मा की प्राप्ति हो। इसके सिवा बाहर से जितने मिथ्या प्रयत्न किये जायँ वे सब भूसा कूटने के बराबर हैं। ३८५.



चैतन्य मेरा देव है; उसीको मैं देखता हूँ। दूसरा कुछ मुझे दिखता ही नहीं है न ! - ऐसा द्रव्य पर जोर आये, द्रव्य की ही अधिकता रहे, तो सब निर्मल होता जाता है। स्वयं अपने में गया, एकत्वबुद्धि टूट गई, वहाँ सब रस ढीले हो गये। स्वरूप का रस प्रगट होने पर अन्य रस में अनंत फीकापन आ गया। न्यारा, सब से न्यारा हो जाने से संसार का रस घटकर अनंतवाँ भाग रह गया। सारी दिशा पलट गई। ३९७.



पर से भिन्न ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करके, बारंबार भेदज्ञान का अभ्यास करते-करते मति-श्रुत के विकल्प टूट जाते हैं, उपयोग गहराई में चलाजाता है और भोंयर में भगवान के दर्शन प्राप्त हों तदनुसार गहराई में आत्मभगवान दर्शन देते हैं। इस प्रकार स्वानुभूति की कला हाथ में आने पर, किस प्रकार पूर्णता प्राप्त हो वह सब कला हाथ में आ जाती है, केवलज्ञान के साथ केलि प्रारंभ होती है। ४०४.



प्रश्न :- हम अनंत काल के दुखियारे; हमारा यह दुःख कैसे

मिटेगा ?

उत्तर :- 'मैं ज्ञायक हूँ मैं ज्ञायक हूँ विभाव से भिन्न मैं ज्ञायक हूँ इस मार्ग पर जाने से दुःख दूर होगा और सुख की घड़ी आयगी। ज्ञायक की प्रतीति हो और विभाव की रुचि छूटे - ऐसे प्रयत्न के पीछे विकल्प टूटेगा और सुख की घड़ी आयगी। 'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसा भले ही पहले ऊपरी-भाव से कर, फिर गहराई से कर, परंतु चाहे जैसे करके उस मार्ग पर जा। शुभाशुभ भाव से भिन्न ज्ञायक का ज्ञायकरूप से अभ्यास करके ज्ञायक की प्रतीति दृढ़ करना, ज्ञायक को गहराई से प्राप्त करना, वही सादि-अनंत सुख प्राप्त करने का उपाय है। आत्मा सुख का धाम है, उसमें से सुख प्राप्त होगा। ४१९.



प्रश्न :- मुमुक्षु को सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये क्या करना चाहिए ?

उत्तर :- अनादिकाल से आत्मा ने अपना स्वरूप नहीं छोड़ा है, परंतु भ्रांति के कारण 'छोड़ दिया है' - ऐसा उसे भासित हुआ है। अनादिकाल से द्रव्य तो शुद्धता से भरा है, ज्ञायकस्वरूप ही है, आनंदस्वरूप ही है। उसमें अनंत चमत्कारिक शक्ति भरी है। - ऐसे ज्ञायक आत्मा को सब से भिन्न - परद्रव्य से भिन्न, परभावों से भिन्न - जानने का प्रयत्न करना चाहिये। भेदज्ञान का अभ्यास करना चाहिये। ज्ञायक आत्मा को पहिचानना चाहिये।

'ज्ञायकस्वरूप हूँ' ऐसा अभ्यास करना चाहिये, उसकी प्रतीति करना चाहिए; प्रतीति करके उसमें स्थिर हो जाने पर, उसमें जो अनंत चमत्कारिक शक्ति है वह प्रगट अनुभव में आती है। ४२६.



प्रश्न :- मुमुक्षु जीव पहले क्या करे ?

उत्तर :- पहले द्रव्य-गुण-पर्याय - सब को पहिचाने। चैतन्यद्रव्य

के सामान्यस्वभाव को पहिचानकर, उस पर दृष्टि करके, उसका अभ्यास करते-करते चैतन्य उसमें स्थिर हो जाये, तो उसमें जो विभूति है वह प्रगट होती है। चैतन्य के असली स्वभाव की लगन लगे, तो प्रतीति हो; उसमें स्थिर हो तो उसका अनुभव होता है।

सब से पहले चैतन्यद्रव्य को पहिचानना, चैतन्य में ही विश्वास करना और पश्चात् चैतन्य में ही स्थिर होना... तो चैतन्य प्रगट हो, उसकी शक्ति प्रगट हो।

प्रगट करने में अपनी तैयारी होना चाहिए; अर्थात् उग्र पुरुषार्थ बारंबार करे, ज्ञायक का ही अभ्यास, ज्ञायक का ही मंथन, उसीका चिंतवन करे, तो प्रगट हो।

पूज्य गुरुदेव ने मार्ग बतलाया है; चारों ओर से स्पष्ट किया है। ४२७.



प्रश्न :- प्रथम आत्मानुभव होने से पूर्व, अंतिम विकल्प कैसा होता है ?

उत्तर :- अंतिम विकल्प का कोई नियम नहीं है। भेदज्ञानपूर्वक शुद्धात्मतत्त्व की सन्मुखता का अभ्यास करते-करते चैतन्यतत्त्व की प्राप्ति होती है। जहाँ ज्ञायक की ओर परिणति ढल रही होती है, वहाँ कौन-सा विकल्प अंतिम होता है (अर्थात् अंत में अमुक ही विकल्प होता है) ऐसा 'विकल्प' संबंधी कोई नियम नहीं है। ज्ञायकधारा की उग्रता-तीक्ष्णता हो वहाँ 'विकल्प कौन-सा ?' उसका संबंध नहीं है।

भेदज्ञान की उग्रता, उसकी लगन, उसीकी तीव्रता होती है; शब्द द्वारा वर्णन नहीं हो सकता। अभ्यास करे, गहराई में जाय, उसके



['श्रीमद् राजचंद्र' में से उद्धृत विधि-विषयक अनमोल रत्न]

स्वद्रव्य के व्यापक शीघ्र हों।

स्वद्रव्य के धारक शीघ्र हों।

स्वद्रव्य के ग्राहक शीघ्र हों।

(बोधवचन-११०. १११, ११३, १७वाँ वर्ष से पहले)



सहज स्वभाव से मुक्त, अत्यंत प्रत्यक्ष अनुभव स्वरूप आत्मा है।
(पत्रांक-३८, २१वाँ वर्ष)



शुद्ध निरंजन अलख अगोचर, एहि ज साध्य सुहायो रे।
ज्ञानक्रिया अवलंबी फरस्यो, अनुभव सिद्धि उपायो रे।।

(पत्रांक-३११, २५वाँ वर्ष)



'आत्मत्व' इस ध्वनि के सिवाय दूसरी कोई ध्वनि किसी भी पदार्थ के ग्रहण-त्याग में स्मरण योग्य नहीं है। अनवकाश आत्मत्व जाने बिना, उस स्थिति के बिना अन्य सर्व क्लेशरूप है।

(पत्रांक-४३१, २६वाँ वर्ष)



लक्षण से, गुण से और वेदन से जिसे आत्मस्वरूप ज्ञात हुआ है, उसके लिये ध्यान का यह एक उपाय है कि जिससे आत्म-

प्रदेश की स्थिरता होती है, और परिणाम भी स्थिर होता है। (पत्रांक-४७२, २६वाँ वर्ष)



राग, द्वेष, अज्ञान ए, मुख्य कर्मनी ग्रंथ।
 थाय निवृत्ति जेह थी, ते ज मोक्षनो पंथ॥१००॥
 आत्मा सत् चैतन्यमय, सर्वाभास रहित।
 जेथी केवल पामिये, मोक्षपंथ ते रीत॥१०१॥
 कर्म मोहनीय भेद बे, दर्शन चारित्र नाम।
 हणे बोध वीतरागता, अचूक उपाय आम॥१०३॥
 ए ज धर्मथी मोक्ष छे, तुं छो मोक्ष स्वरूप।
 अनंत दर्शन ज्ञान तुं, अव्याबाध स्वरूप॥१०६॥
 शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, स्वयंज्योति सुखधाम।
 बीजुं कहीए केटलुं ? कर विचार तो पाम॥१०७॥
 भास्युं निजस्वरूप ते, शुद्ध चेतनारूप।
 अजर, अमर, अविनाशी ने, देहातीत स्वरूप॥१२०॥
 अथवा निजपरिणाम, शुद्ध चेतनारूप।
 कर्ता भोक्ता तेहनो, निर्विकल्प स्वरूप॥१२२॥
 मोक्ष कह्यो निजशुद्धता, ते पामे ते पंथ।
 समजाव्यो संक्षेपमां, सकल मार्ग निर्गथ॥१२३॥ (आत्मसिद्धि)



दर्शनमोह व्यतीत थई उपज्यो बोध जे,
 देह भिन्न केवल चैतन्यनुं ज्ञान जो।
 तेथी प्रक्षीण चारित्रमोह विलोकिये,
 वर्ते एवुं शुद्धस्वरूपनुं ध्यान जो॥ (अपूर्व अवसर-३)



सब जीवों के प्रति, सभी भावों के प्रति अखण्ड एक रस वीतरागदशा रखना ही सर्व ज्ञान का फल है। आत्मा शुद्ध चैतन्य, जन्मजरामरणरहित

असंग स्वरूप है, इसमें सर्व ज्ञान समा जाता है; उसकी प्रतीति में सर्व सम्यग्दर्शन समा जाता है, आत्मा की असंगस्वरूप से स्वभावदशा रहेना है वही सम्यक्चारित्र, उत्कृष्ट संयम और वीतरागदशा है। जिसकी संपूर्णता का फल सर्व दुःख का क्षय है, यह सर्वथा निःसंदेह है, सर्वथा निःसंदेह है। (पत्रांक-७८१, ३०वाँ वर्ष)



उपयोग-लक्षण से सनातन-स्फुरित ऐसे आत्मा को देह से, तैजस और कार्मण शरीर से भी भिन्न अवलोकन करने की दृष्टि सिद्ध करके, वह चैतन्यात्मकस्वभाव आत्मा निरंतर वेदक स्वभाववाला होने से अबंधदशा को जब तक संप्राप्त न हो तब तक साता-असातारूप अनुभव का वेदन किये बिना रहनेवाला नहीं है यह निश्चय करके, जिस शुभाशुभ परिणामधारा की परिणति से वह साता-असाता का संबंध करता है उस धारा के प्रति उदासीन होकर, देह आदि से भिन्न और स्वरूपमर्यादा में रहे हुए उस आत्मा में जो चल स्वभावरूप परिणामधारा है उसका आत्यंतिक वियोग करने का सन्मार्ग ग्रहण करके, परम शुद्धचैतन्यस्वभावरूप प्रकाशमय वह आत्मा कर्मयोग से सकलंक परिणाम प्रदर्शित करता है उससे उपरत होकर, जिस प्रकार उपशमित हुआ जाये उस उपयोग में और उस स्वरूप में स्थिर हुआ जाये, अचल हुआ जाये, वही लक्ष्य, वही भावना, वही चिंतन और वह सहज परिणामरूप स्वभाव करना योग्य है। महात्माओं की वारंवार यही शिक्षा है। (पत्रांक-९१३, ३३वाँ वर्ष)



रूपजे मोह विकल्पथी, समस्त आ संसार।
 अंतर्मुख अवलोकतां, विलय थतां नहि वार॥२॥

(पत्रांक-९५४, ३४वाँ वर्ष)



सत्पुरुष जो कहते हैं वह सूत्र का, सिद्धांत का परमार्थ है।

सूत्र-सिद्धांत तो कागज है, हम अनुभव से कहते हैं, अनुभव से शंका दूर करने को कह सकते हैं। अनुभव प्रगट दीपक है, और सूत्र कागज में लिखा हुआ दीपक है। (उपदेश छाया-१४)



सिद्धांत के दृष्टांत - (१) 'रागद्वेष से बंध होता है।' (२) 'बंध का क्षय होने से मुक्ति होती है।' - इस सिद्धांत की प्रतीति करनी हो तो रागद्वेष छोड़ें। यदि सर्व प्रकार से रागद्वेष छूट जायें तो आत्मा का सर्व प्रकार से मोक्ष हो जाता है। आत्मा बंधन के कारण मुक्त नहीं हो सकता। बंधन छूटा कि मुक्त है। बंधन होने के कारण रागद्वेष हैं। जहाँ रागद्वेष सर्वथा छूटे कि बंध से छूट ही गया है आत्मा। इसमें कोई प्रश्न या शंका नहीं रहती। (व्याख्यानसार-१: १३७)



मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूँ
ऐसा सम्यक् प्रतीत होता है।
वैसा होने के हेतु सुप्रतीत हैं।

सर्व इन्द्रियों का संयम कर, सर्व परद्रव्य से निजस्वरूप को व्यावृत्त कर, योग को अचल कर, उपयोग से उपयोग की एकता करने से केवलज्ञान होता है।

(आभ्यंतर-परिणामअवलोकन-संस्मरण-पोथी-३ : ९)



['द्रव्यदृष्टि-प्रकाश (भा.१) में से विधि-विषयक उद्धृत रत्न]

बहुमान आदिके शुभरागकी महिमा नहीं आकर, उत्कृष्ट चिदानंद स्वभावकी अनुपम महिमाके दृढ निर्णयका पराक्रम होनेपर अंतर स्वभावमें वलण होता है। (पत्रांक-२४)



परिणाममें से अस्तित्वपने की श्रद्धा हटाकर, त्रिकाली ज्ञानानंद आदि अनंत गुणों के देहाकार असंख्यात प्रदेशी निजपने में श्रद्धा की पर्याय को एकाकार व्यापक करते ही नित्यपने का, निज अस्तित्वपने का प्रति समय अनुभव होता है। (पत्रांक-३९)



द्वादशांग का सार तो श्री गुरुदेव ने फ़रमाया है कि : "वर्तमान में ही मूल, कायमी, त्रिकाली, ध्रुव स्वभाव, परिणामों का विश्रामधाम 'में' हूँ। इस स्थान में दृष्टि पसारकर, स्वयं व्यापक होकर, परिणामों की पकड़ छोड़ दो, इन्हें सहज ही परिणमने दो, इनमें अटको नहीं। परिणमन स्वभाव के समय ही अपरिणामी स्वभाव भी साथ ही साथ है। इस अपरिणामी स्वभाव को नित्य पकड़े रहो, यहाँ जमे रहो; इसके बिना निस्तार नहीं है। पत्रादिक का आधार, शास्त्राधार, अरे ! प्रत्यक्ष तीर्थकर की आधारबुद्धि भी स्वयं वर्तमान सामर्थ्य का अनादर करनेवाली है।" ऐसा कह कर ही परम कृपालु गुरुदेव ने वर्तमान से ही उनपर से दृष्टि हटाकर, अघट-बद्ध त्रिकाली

सदृश्य सामान्यस्वरूप में अपना अड्डा जमाकर निश्चल बिराजने को कहा है। उनके ऐसे सिंहनादरूप उपदेश को पाकर भी फिर दीनता क्यों ? वर्तमान में ही अपने सिंह स्वभाव को - अनंत शक्तियों के धाम को संभालो ! दीन विकल्प निराश्रय होकर टूटते जावेंगे, जड़ कर्म बिखरते जायेंगे, सुख-शांति का प्रत्यक्ष वेदन क्षणे-क्षणे बढ़ता जायेगा। (पत्रांक-४०)



चैतन्यप्रतिमा व चेतनपरिणति के स्वतंत्र-स्वतंत्र अस्तित्व की यथार्थ कबूलात कर चैतन्यप्रतिमा में अपना स्थापन करते ही परिणति प्रतिमा का आलिंगन करने लगती है, जो इष्ट है। (पत्रांक-४३)



नित्य शुद्धात्मस्वभावमें दृष्टि अभेदकर, तादात्म्यकर, निर्विकल्पकर, सहज अहम्पनेसे स्वमूर्तिकी स्थापना करो ! देह, मन, वाणी, राग व क्षायिक-क्षणिक भावसे भी पार, सूक्ष्म, अति सूक्ष्म सामान्य द्रव्यमयी गठरीरूप होकर जमे रहो ! इस नित्यबलकी अधिकायीसे क्षणिक परिणाममें खिसको नहीं ! ज्ञान रागसे सहज पृथक् होकर, क्षणे-क्षणे वृद्धिगत होते-होते पूर्ण उघड़ जायेगा। (पत्रांक-५०)



['द्रव्यदृष्टि-प्रकाश (भा.३) में से विधि-विषयक उद्धृत रत्न]

अपने त्रिकाली अस्तित्व में अपनापन होनेसे पर्यायबुद्धि छूट जाती है। २५.



प्रश्न :- शुरुआतवाले को अनुभव के लिए कैसे प्रयत्न करना ?
उत्तर :- 'मैं' परिणाम मात्र नहीं हूँ; त्रिकाली-ध्रुवपने में अपनापन थाप देना (स्थापित करना) यही उपाय है। (अनादि पर्यायबुद्धि सहित मुमुक्षु जीव उपदेशबोध के अनुसार अपनी भूमिका योग्य परिणाम से प्रारंभ करता है, परंतु सर्व प्रथम पर्यायमें से अस्तित्व उठा करके द्रव्यस्वभाव में अस्तित्व स्थापित करना है - ऐसा लक्ष्य प्रारंभ से ही रहना अत्यावश्यक है, वरना पर्यायबुद्धि दृढ़ हो जानेसे द्रव्यदृष्टि उत्पन्न होनी मुशिकल हो जाती है, और मुमुक्षुता में ही मनुष्य आयु पूर्ण हो जाती है और भवभ्रमण का छेद नहीं होता।) ७०.



एक ही 'मास्टर की' (Master key) है; सब बातों में - सभी शास्त्रों में एक ही सार है - 'त्रिकालीपने में अपनापन जोड़ देना'। ९०



पर्याय मात्र की गौणता करो। अनुभव हुआ, नहीं हुआ - यह

मत देखो। 'त्रिकाली वस्तु ही मैं हूँ। पर्याय मात्र को गौण कर, इधर का (अंतर-स्वरूप का) प्रयास करो। अभिप्राय में एक दफ़ा तो सब से छूट जाना है। २२८.



ध्रुव तत्त्वपर पाँव (दृष्टि) रखो... तो पर्याय में सब कार्य सहज ही होगा। २३०.



वस्तु साक्षात् मौजूद पड़ी है, मात्र कल्पना नहीं करना लेकिन उस रूप हो जाना - तन्मय होकर असंख्य प्रदेश में व्याप्त हो जाना। जब वस्तु साक्षात् है तो फिर मात्र कल्पना क्यों करना ? - उस रूप परिणम जाना ! (स्वरूप के प्रत्यक्ष अनुभव काल में 'आत्मप्रत्यक्षता' के अवलंबन से उत्पन्न पुरुषार्थ का यह प्रकट चितार है।) २३२.



(आत्मप्राप्ति कैसे होवे ? - इस विषय में जिज्ञासापूर्वक पूछे गये प्रश्न का विस्तृत उत्तर :-)

रुचि में खरेखर अपनी ज़रूरत लगे तब अपनी वस्तु की प्राप्ति हुए बिना नहीं रहती। चौबीसों घण्टों चिंतन में - बेचिंतन में एक यही (स्वरूप का घोलन) चलता रहे। जिस विषय की रुचि होती है, वह विषय सैकड़ों बाह्य कार्य करते हुए भी चलता ही रहता है। बाहर का उपयोग तो ऊपरी-ऊपरी तौर से चलता है, उसमें जाग्रति नहीं रहती; जिस विषय की रुचि है उसी में जाग्रति रहती है। सैकड़ों कार्य करते रहने पर भी सभी की गौणता ही रहा करती है; मात्र रुचि का विषय ही सदा मुख्य रहता है।

विकल्पात्मक विचार में भी 'शरीराकार चैतन्यमूर्ति' को टॉक दो... 'मैं तो यही हूँ।' सुख-दुःख की जो कोई पर्याय हो, उसकी उपेक्षा रखो। 'मैं तो यही हूँ' - विचार चले, उसकी भी गौणता रखो।

'मैं तो वैसा का वैसा ही चैतन्यमूर्ति हूँ' - बस ! यही दृढ़ता करते रहो।

सुनना, शास्त्र पढ़ना आदि सभी की गौणता होनी चाहिए; एकांत का ज़्यादा अभ्यास रहना चाहिए (ताकि स्वरूपघोलन बड़े।)

यह (सम्यक्त्व) प्राप्त नहीं हुआ तो जीव निगोद में चला जाएगा - ऐसे निगोद के भय से, अपना कार्य करना चाहे तो वो यथार्थ नहीं। परंतु (अभिप्राय में) निगोद की अवस्था हो या सिद्ध की, 'मेरा' तो कुछ भी बिगाड़-सुधार नहीं ('मैं' अवस्थारूप नहीं,) - ऐसी 'मैं' अचलित वस्तु हूँ - ऐसी श्रद्धा जम जानी चाहिए। पर्याय कैसी भी हो उसकी उपेक्षा ही रहनी चाहिए।

'परद्रव्य के साथ में तो कुछ संबंध ही नहीं' ऐसा तो पक्ष होना चाहिए; बाद में वस्तु (त्रिकाली ध्रुव) और परिणाम (उत्पाद-व्यय) इन दो के विचार में ही सब समय लगा देना है।

चौबीसों घण्टों...बस यही (स्वरूप का घूँटण) चलना चाहिए। प्रवृत्तिभाव को गौण करके इस एक ही की मुख्यता चलनी चाहिए - यही प्रयास निरंतर चलना चाहिए। २५०.



प्रश्न :- आत्मा तो दिखता नहीं, तो प्रत्यक्ष कैसे होवे ?

उत्तर :- परिणाम तो दिखता है न ! तो परिणाम जिसमें से आता है... उस (अनंत प्रत्यक्ष) चीज़ का पहले अनुमान किया जाता है, फिर (वेदन से) प्रत्यक्ष करना। ५०६.



वेदनासमुद्घात में जीव के प्रदेश शरीर से बाहर निकल जाते हैं, और शरीर के बाहर वेदन आता है; तो कोई जीव, इस पर से भी शरीर से (आत्मा के) भिन्नपने के विचार में उतरकर काम कर सकता है। ५६८.



प्रश्न :- शास्त्र में आत्मा को भेदाभेद स्वरूप कहा है; और आप तो आत्मा को अभेद कहते हो; इसमें आपका क्या प्रयोजन है ?

उत्तर :- प्रमाणज्ञान की अपेक्षा से आत्मा को भेदाभेदस्वरूप कहने में आता है। लेकिन वास्तव में सम्यग्दर्शन का विषयभूत आत्मा तो अभेद ही है, क्योंकि सम्यग्दर्शन का विषय भेद नहीं है। इसलिए भेदाभेद के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती, मात्र अभेद के लक्ष्य से ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, यही आशय है। ५८९.



जिस जीव का ज्ञान अपने स्थूल परिणामों को पकड़ने में काम न करे वह जीव अपने सूक्ष्म परिणामों को कहाँसे पकड़ेगा ? और सूक्ष्म परिणामों को न पकड़े तो स्वभाव कैसे पकड़में आयेगा ? ज्ञान को सूक्ष्म-तीक्ष्ण करके स्वभाव को पकड़े तो भेदविज्ञान हो।

-पूज्य बहिनश्री चंपाबेन

श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट उपलब्ध प्रकाशन (हिन्दी)

ग्रंथ का नाम एवं विवरण	मूल्य
०१ जिणसासणं सब्बं (ज्ञानीपुरुष विषयक वचनमृतोंका संकलन)	०८-००
०२ द्रव्यदृष्टिप्रकाश (तीनों भाग - पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजीके पत्र एवं तत्त्वचर्चा)	३०-००
०३ दूसरा कुछ न खोज (प्रत्यक्ष सत्पुरुष विषयक वचनमृतोंका संकलन)	०६-००
०४ दंसणमूलो धम्मो (सम्यक्त्व महिमा विषयक आगमोंके आधार)	०६-००
०५ निर्भ्रात दर्शनकी पगडंडी (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	१०-००
०६ परमागमसार (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके १००८ वचनमृत)	
०७ प्रयोजन सिद्धि (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	०४-००
०८ मूलमें भूल (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके विविध प्रवचन)	०८-००
०९ विधि विज्ञान (विधि विषयक वचनमृतोंका संकलन)	१०-००
१० सम्यक्ज्ञानदीपिका (ले. श्री धर्मदासजी क्षुल्लक)	१५-००
११ तत्त्वानुशीलन (भाग १-२-३) (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	२०-००
१२ अनुभव प्रकाश (ले. दीपचंद्रजी कासलीवाल)	
१३ ज्ञानामृत (श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथमें से चयन किये गये वचनमृत)	
१४ मुमुक्षुता आरोहण क्रम (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-२५४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	
१५ सम्यग्दर्शनके सर्वोत्कृष्ट निवासभूत छः पदोंका अमृत पत्र (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-४९३ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	१८-००
१६ आत्मयोग (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-५६९, ४९९, ६०९ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२०-००
१७ परिभ्रमणके प्रत्याख्यान (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-१९५, १२८, २६४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२०-००
१८ अनुभव संजीवनी (पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा लिखे गये वचनमृतोंका संकलन)	१५०-००
१९ धन्य आराधना (श्रीमद् राजचंद्रजीकी अंतरंग अध्यात्म दशा पर पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा विवेचन)	
२० सिद्धपदका सर्वश्रेष्ठ उपाय (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-१४७, १९४, २००, ५११, ५६०, ८१९ पर पूज्य भाईश्री शशीभाई के प्रवचन)	२५.००

२१	कुटुम्ब प्रतिबंध (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-१०३, ३३२, ५१०, ५२८, ५३७ और ३७४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
२२	गुरु गिरा गौरव (पूज्य निहालचंद्र सोगानीजी के विशिष्ट वचनमृत एवं पत्रों पर पूज्य भाईश्री शशीभाई के प्रवचन)	४०-००
२३	दिशा बोध (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-१६६, ४४९, ५७२ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००

वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट उपलब्ध प्रकाशन (गुजराती)

ग्रंथनुं नाम तेमज विवरण मूल्य

०१	गुरुगुण संभारण (पूज्य भडेनश्रीना श्रीमुभेशी स्फुरित गुरुभक्ति)	०५-००
०२	जिज्ञासासंघं सव्वं (ज्ञानीपुरुष विषयक वचनामृतोनुं संकलन)	०८-००
०३	दादश अनुप्रेक्षा (श्रीमद् भगवत् कुंडकुंदाचार्यदेव विरचित)	०२-००
०४	द्रव्यदृष्टिप्रकाश भाग-३ (पूज्य श्री निहालचंद्र सोगानीजी तत्त्वचर्या)	०४-००
०५	दसलक्षण धर्म (उत्तम क्षमादि दस धर्मो पर पू. गुरुदेवश्रीनां प्रवचनो)	०६-००
०६	धन्य आराधना (श्रीमद् राजचंद्रजीनी अंतरंग अध्यात्म दशा उपर पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा विवेचन)	१०-००
०७	निर्भ्रांत दर्शननी केडीये (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	१०-००
०८	परमात्मप्रकाश (श्रीमद् योगीन्द्रदेव विरचित)	१५-००
०९	परमागमसार (पूज्य गुरुदेवश्री कानजिस्वामीना १००८ वचनामृत)	११-२५
१०	प्रवचन नवनीत भाग-१ (पूज्य गुरुदेवश्रीना भास प्रवचनो)	अनुपलब्ध
११	प्रवचन नवनीत भाग-२ (पूज्य गुरुदेवश्रीना भास प्रवचनो)	२५-००
१२	प्रवचन नवनीत भाग-३ (पूज्य गुरुदेवश्रीना ४७ नय उपर भास प्रवचनो)	३५-००
१३	प्रवचन नवनीत भाग-४ (पूज्य गुरुदेवश्रीना ४७ शक्तिओ उपर भास प्रवचनो)	७५-००
१४	प्रवचन प्रसाद भाग-१-२ (पंथास्तिकायसंग्रह पर पूज्य गुरुदेवश्रीना प्रवचनो)	६५-००
१५	प्रयोजन सिद्धि (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	०३-००
१६	विधि विज्ञान (विधि विषयक वचनामृतोनुं संकलन)	०७-००
१७	भगवान आत्मा (द्रव्यदृष्टि विषयक वचनामृतोनुं संकलन)	०७-००
१८	पथ प्रकाश (मार्गदर्शन विषयक वचनामृतोनुं संकलन)	०६-००
१९	सम्यक्ज्ञानदीपिका (ले. श्री धर्मदासजी झुल्लक)	१५-००
२०	आध्यात्मिक पत्र (पूज्य श्री निहालचंद्र सोगानीजीना पत्रो)	०२-००
२१	अध्यात्म संदेश (पूज्य गुरुदेवश्रीना विविध प्रवचनो)	प्रेसमां
२२	ज्ञानामृत (श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथमांशी यूंटेला वचनामृतो)	०६-००
२३	भीजूं कांई शोध मा (प्रत्यक्ष सत्पुरुष विषयक वचनामृतोनुं संकलन)	०६-००
२४	मुमुक्षुता आरोडण कर्म (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-२५४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईना प्रवचनो)	१५-००
२५	सम्यग्दर्शनना निवासना सर्वोत्कृष्ट निवासभुत छ पढनो अमृत पत्र (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-४८३ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईना प्रवचनो)	२०-००

૨૬ આત્મયોગ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૫૬૯, ૪૯૧, ૬૦૯ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૨૭ પરિભ્રમણના પ્રત્યાખ્યાન (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૯૫, ૧૨૮ તથા ૨૬૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૨૮ અનુભવ સંજ્ઞવની (પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ દ્વારા લિખિત વચનામૃતોનું સંકલન)	૧૫૦-૦૦
૨૯ સિદ્ધપદનો સર્વશ્રેષ્ઠ ઉપાય (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૪૭, ૧૯૪, ૨૦૦ ૫૧૧, ૫૬૦ તથા ૮૧૯ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫.૦૦
૩૦ કુટુંબ પ્રતિબંધ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૦૩, ૩૩૨, ૫૧૦, ૫૨૮, ૫૩૭ તથા ૩૭૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫.૦૦
૩૧ ગુરુ ગિરા ગૌરવ (પૂજ્ય નિહાલચંદ્ર સોગાનીજીના વિશિષ્ટ વચનામૃતો તથા પત્રો ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૪૦.૦૦
૩૨ વચનામૃત રહસ્ય (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના નાઈરોબીમાં 'બહેનશ્રીના વચનામૃત' પર થયેલાં પ્રવચનો)	૨૫.૦૦
૩૩ પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧) 'પ્રવચનસાર' શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૪૦.૦૦
૩૪ દિશા બોધ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૬૬, ૪૪૯, ૫૭૨, પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫.૦૦
૩૫ કહાન રત્ન સરિતા (ભાગ-૧) ('પરમાગમસાર' માંથી ચૂંટેલા કેટલાક વચનામૃતો ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫.૦૦

વીતરાગ સત્ સાહિત્ય પ્રસારક ટ્રસ્ટમાં સે પ્રકાશિત હુર્ડે પુસ્તકોની પ્રત સંખ્યા

૦૧ પ્રવચનસાર (ગુજરાતી)	૧૫૦૦
૦૨ પ્રવચનસાર (હિન્દી)	૪૨૦૦
૦૩ પંચાસ્તિકાયસંગ્રહ (ગુજરાતી)	૧૦૦૦
૦૪ પંચાસ્તિકાયસંગ્રહ (હિન્દી)	૨૫૦૦
૦૫ સમયસાર નાટક (હિન્દી)	૩૦૦૦
૦૬ અષ્ટપાહુડ (હિન્દી)	૨૦૦૦
૦૭ અનુભવ પ્રકાશ	૨૧૦૦
૦૮ પરમાત્મપ્રકાશ	૪૧૦૦
૦૯ સમયસાર કલશટીકા (હિન્દી)	૨૦૦૦
૧૦ આત્મઅવલોકન	૨૦૦૦
૧૧ સમાધિતંત્ર (ગુજરાતી)	૨૦૦૦
૧૨ બૃહદ્ર દ્રવ્યસંગ્રહ (હિન્દી)	૩૦૦૦
૧૩ જ્ઞાનામૃત (ગુજરાતી)	૧૦,૦૦૦
૧૪ યોગસાર	૨૦૦૦
૧૫ અધ્યાત્મસંદેશ	૨૦૦૦
૧૬ પદ્મનંદીપંચવિંશતી	૩૦૦૦
૧૭ સમયસાર	૩૧૦૦
૧૮ સમયસાર (હિન્દી)	૨૫૦૦
૧૯ અધ્યાત્મિક પત્રો (પૂજ્ય નિહાલચંદ્રજી સોગાની દ્વારા લિખિત)	૩૦૦૦
૨૦ દ્રવ્યદૃષ્ટિ પ્રકાશ (ગુજરાતી)	૧૦,૦૦૦
૨૧ દ્રવ્યદૃષ્ટિ પ્રકાશ (હિન્દી)	૬૬૦૦
૨૨ પુરુષાર્થસિદ્ધિઉપાય (ગુજરાતી)	૬૧૦૦
૨૩ ક્રમબદ્ધપર્યાય (ગુજરાતી)	૮૦૦૦
૨૪ અધ્યાત્મપરાગ (ગુજરાતી)	૩૦૦૦
૨૫ ધન્ય અવતાર (ગુજરાતી)	૩૭૦૦
૨૬ ધન્ય અવતાર (હિન્દી)	૮૦૦૦
૨૭ પરમાગમસાર (ગુજરાતી)	૫૦૦૦
૨૮ પરમાગમસાર (હિન્દી)	૪૦૦૦
૨૯ વચનામૃત પ્રવચન ભાગ-૧-૨	૫૦૦૦

३२	अनुभव प्रकाश (हिन्दी)	२०००
३३	गुरुगुण संभारणा (गुजराती)	३०००
३४	जिण सासणं सव्वं (गुजराती)	२०००
३५	जिण सासणं सव्वं (हिन्दी)	२०००
३६	द्वादश अनुप्रेक्षा (गुजराती)	२०००
३७	दस लक्षण धर्म (गुजराती)	२०००
३८	धन्य आराधना (गुजराती)	१०००
३९	धन्य आराधना (हिन्दी)	१५००
४०	प्रवचन नवनीत भाग-१-४	५८५०
४१	प्रवचन प्रसाद भाग-१-२	१५००
४२	पथ प्रकाश (गुजराती)	२०००
४३	प्रयोजन सिद्धि (गुजराती)	३५००
४४	प्रयोजन सिद्धि (हिन्दी)	२५००
४५	विधि विज्ञान (गुजराती)	२०००
४६	विधि विज्ञान (हिन्दी)	२०००
४७	भगवान आत्मा (गुजराती)	२०००
४८	सम्यक्ज्ञानदीपिका (गुजराती)	१०००
४९	सम्यक्ज्ञानदीपिका (हिन्दी)	१५००
५०	तत्त्वानुशीलन (गुजराती)	४०००
५१	तत्त्वानुशीलन (हिन्दी)	२०००
५२	बीजुं कांई शोध मा (गुजराती)	४०००
५३	दूसरा कुछ न खोज (हिन्दी)	२०००
५४	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (गुजराती)	२५००
५५	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (हिन्दी)	३५००
५६	अमृत पत्र (गुजराती)	२०००
५७	अमृत पत्र (हिन्दी)	२०००
५८	परिभ्रमणना प्रत्याख्यान (गुजराती)	१५००
५९	परिभ्रमणके प्रत्याख्यान (हिन्दी)	२०००
६०	आत्मयोग (गुजराती)	१५००
६१	आत्मयोग (हिन्दी)	२०००
६२	अनुभव संजीवनी (गुजराती)	१०००
६३	अनुभव संजीवनी (हिन्दी)	१०००
६४	ज्ञानामृत (हिन्दी)	१५००

६५	वचनमृत रहस्य	१०००
६६	दिशा बोध (हिन्दी-गुजराती)	३०००
६७	कहान रत्न सरिता	१५००
६८	प्रवचन सुधा (भाग-१)	१०००
६९	कुटुम्ब प्रतिबंध (हिन्दी-गुजराती)	३०००
७०	सिद्धपद का सर्वश्रेष्ठ उपाय (हिन्दी-गुजराती)	३०००
७१	गुरु गिरा गौरव (हिन्दी-गुजराती)	३०००

पाठकों के लिये

पाठकों के लिये